...स्त्र सर्ग ५

डा० कैलाशनाथ भटनागर

का लि दा स - वि र चि त

कुमारसम्भव सर्ग ५

अन्वय, वाच्यपरिवर्तन, शब्दार्थ, मल्लिनाथ-कृत टीका, टिप्पण, हिन्दी अनुवाद, पद्य-सूची, अंगरेज़ी अनुवाद, प्रश्न-पत्र, आदि सहित

सम्पादक

डा० कैलाशनाथ भटनागर

एम. ए., पी-एच. डी.

अध्यक्ष

संस्कृत तथा हिन्दी विभाग,

पंजाब यूनिवर्सिटी (केम्प) कालेज, नई दिल्ली

प्रकाशक

भारतीय गौरव ग्रंथमाला,

७२, हज़रतगंज, लखनऊ आनंद पर्वत, नई दिल्ली—५

दूसरा संस्करण] सन् १९५३ [मूल्य १।।)
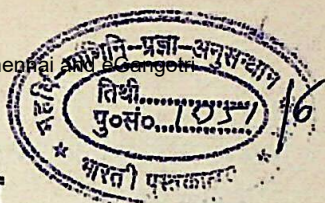
दो शब्द

कुमारसम्भव सर्ग ५ का प्रस्तुत संस्करण एफ़. ए. के विद्यार्थियों की आवश्यकता देखकर तैयार किया गया है। इस संस्करण के कुछ ही पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से विदित हो जायगा कि इस संस्करण द्वारा चिरकाल से आवश्यक समझी गई अभीष्ट वस्तु की पूर्त्ति हुई है। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि न कोई आवश्यक विषय छुट जाय और न ही कोई अनावश्यक वस्तु का समावेश हो जाय।

इन संस्करण में हमने अपने प्रथम अँगरेज़ी संस्करण को सम्पूर्ण रूप से हिन्दी रूप प्रदान कर दिया है। कठिन शब्दों के अर्थ हिन्दी में दे दिये गये हैं, जिससे पाठ के समझने में सुभीता हो। हिन्दी अनुवाद में पाठ के निकटतम रहने का प्रयत्न किया गया है। पद्य के नीचे दिया गया अन्वय विद्यर्थियों को शब्दों का परस्पर सम्बन्ध समझाने में सहायक सिद्ध होगा। अन्वय में ही वाक्य का प्रधान अंश काले टाईप में रखा गया है। व्याकरण आदि की सूक्ष्मताओं के समझाने लिए वाच्य-परिवर्त्तन भी अन्वय के नीचे दे दिया गया है।

मल्लिनाथ-कृत संजीवनी टीका में पाठ के शब्दों को काले टाईप में छापा गया है। इस टीका में व्याकरण तथा काव्य-सम्बन्धी चर्चा, कोषों के उद्धरण तथा अन्य आवश्यक बातें जोड़ दी गई हैं। यह सब कुछ होते हुए भी विषय जटिल न होकर वरञ्च बड़ा रोचक तथा सरल बना रहा है।

टिप्पणी को भी विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। समासों का विग्रह तथा उनके नामों का उल्लेख कर दिया गया है। कठिन तथा अप्रचलित शब्दों के अर्थ प्राचीन कोषों के उद्धरण दे कर स्पष्ट किये गये हैं। समान भाववाले उद्धरण पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किये गये हैं।

इस सर्ग के आधार पर जो प्रश्न विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं में पूछे गये है, उन्हें परिशिष्ट में जोड़ दिया है। आशा की जाती है कि यह

संस्करण पहले अंगरेज़ी संस्करण की अपेक्षा विद्यार्थियों को अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

लखनऊ
५–१२–५०

कैलाशनाथ भटनागर

दूसरा संस्करण.

हमें यह जानकर हर्ष हुआ है कि अध्यापक तथा विद्यार्थि-वर्ग दोनों ने इस संस्करण का सहर्ष स्वागत किया है। दूसरे संस्करण में हमने गत-परीक्षाओं में पूछे गये पद्यों के आगे ॐ चिह्न लगा दिया है। पूर्वापर सम्बन्ध के लिए पूछी गई पंक्तियों को रेखाङ्कित कर दिया है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति के लिए पूछे गये शब्द भी रेखांकित कर दिये गये हैं। जिन शब्दों पर टिप्पण लिखने को कहा गया है, उनके नीचे - - - - चिह्न लगा दिया गया है।

कुमारसम्भव सर्ग ५ पर पिछले ग्यारह वर्षों (१९४३-५३) के प्रश्न-पत्र, जो यू० पी० इंटर बोर्ड की परीक्षा में आये हैं, वे भी दे दिये गये हैं। प्रश्न-पत्रों से पहले परिशिष्ट में समस्त पद्यों का अंगरेज़ी-अनुवाद भी इकट्ठा दे दिया गया है। जो विद्यार्थी अंगरेज़ी-अनुवाद की इच्छा करते हैं, वह उससे लाभ उठा सकेंगे।

पद्य-सूची द्वारा पंचम सर्ग का पद्य ढूँढने में सुभीता रहेगा।

टाईप में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। पद्य इटेल्क्सि टाईप में चार-चार पंक्तियों में दिये गये हैं। अन्वय में दिये गये प्रधान अंश के शब्द भी और मोटे टाइप में दे दिये हैं। हिन्दी अनुवाद का टाईप भी कर दिया गया है।

आशा है कि यह संस्करण विद्यार्थि-वर्ग को और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

नई दिल्ली
२५–१२–५३

कैलाशनाथ भटनागर

भूमिका

१. कालिदास

(क) जीवन-चरित्र

सामग्री का अभाव

कालिदास निःसन्देह बहुत उच्चकोटि का कवि तथा नाटककार हुआ है। सर विलियम जोन्ज़ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने उसे "भारत का शेक्सपियर" कहा है। किन्तु यह बात ध्यान में रहे कि शेक्सपियर केवल नाटककार ही है और कालिदास प्राचीन कवियों तथा नाटककारों दोनों में सर्वोच्च पद को प्राप्त है। अत्यन्त खेद का विषय है कि हम कालिदास के जीवन-चरित के सम्बन्ध में ठीक-ठीक प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं जानते। वह 'अपने ग्रन्थों में अपने सम्बन्ध में सर्वथा मौन है।' अनेक टीकाकारों में से एक भी तो नहीं जो इस पहेली पर तनिक प्रकाश डालता हो। हमें कई कथानक प्राप्त हुए हैं, किन्तु वे इतने विस्मयपूर्ण हैं कि वे ऐतिहासिक तथ्यता के सर्वथा विरुद्ध हैं। उसके ग्रन्थ भी इस विषय पर कुछ विशेष नहीं कहते। उसे अहंभाव छू कर नहीं गया। वह अतीव विनयी है। उसने अपने सम्बन्ध में बहुत ही कम बताया है। उसने मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में लिखा है :—

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा। कालिदास-ग्रथित-वस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतकम्।

पारिपार्श्विकः—मा तावत्। प्रथित-यशसां भास-सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान-कवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः?

सूत्रधारः—अये ! विवेक विश्रान्तमभिहितम् । पश्य,

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ॥

भवभूति ने तो अपने माता-पिता इत्यादि के विषय में कुछ बताया है किन्तु कालिदास ने बिल्कुल चुप्पी साध रखी है । ऊपर की पंक्तियों से यह प्रकट होगा कि मालविकाग्निमित्र नाटककार की प्रथम रचना है । इसी प्रकार उसने विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल में भी केवल अपने नाम का उल्लेख किया है, बस, और कुछ नहीं । किन्तु इनमें वह पहले का संकोच जाता रहा है । प्रतीत होता है कि उसने अपना नाम ऊँचा कर लिया था:—

सूत्रधारः—मारिष ! बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टः प्रयोग-बन्धः । सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये ।...

शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥

(विक्रमो० १. २)

सूत्रधारः—अद्य खलु कालिदास-प्रथित-वस्तुनाभिज्ञान-शाकुन्तल-नामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । (शाकुन्तल)

एक ही बार उसने अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है (रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् । रघु० १. १०) किन्तु तुरन्त ही वह अपना मुँह बन्द कर लेता है, और फिर कुछ नहीं कहता । नाट्य-शास्त्र का नियम है कि नाटककार अपना नाम बताये, इसलिए कालिदास ने अपना नाम तो बता दिया है, और कुछ नहीं । अन्यथा, त्रिवन्द्रम् नाटकों की भाँति उसके नाटकों के रचयिता के विषय में भी वाद-विवाद उठ खड़ा होता ।

जन्म-स्थान

एक अति प्राचीन जन-श्रुति बताती है कि कालिदास उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का, जिसने ५७ विक्रम पूर्व में अपना संवत् चलाया था, राज-कवि था । महाकाल, सिप्रा, तथा उज्जयिनी के रमणीय दृश्यों के विशद और उत्तेजनात्मक विवरण से समझा जाता है कि कवि यहाँ का निवासी था । किन्तु यह बात भी निश्चित नहीं । कुछ विद्वान् उसे काश्मीर का निवासी

बताते हैं, दूसरे उसे बंगाल का। यह भी सुझाया जाता है कि वह कदाचित् काश्मीर में उत्पन्न हुआ हो और कालान्तर में उज्जयिनी में जा बसा हो।

कालिदास का मत

कालिदास ब्राह्मण-कुल-भूषण और शैव था। वह अपना प्रत्येक नाटक शिव-स्तुति द्वारा प्रारम्भ करता है।* वैष्णव ग्रन्थ रघुवंश† में भी उसने ऐसा ही किया है किन्तु वह कट्टर शैव नहीं था। उसने त्रिमूर्ति के शेष दो देवता ब्रह्मा और विष्णु के प्रति भी उत्तेजनात्मक भाव दिखाया है। कुमारसम्भव में शिव स्वयं नायक है किन्तु वहाँ भी (२. ४-१५) कवि ने ब्रह्मा की बड़ी प्रशंसा की है, जब कि ऋषि-मुनि उनके पास तारकासुर से रक्षा के उपाय के लिए पहुँचते हैं। यद्यपि रघुवंश में (१०. १६-३४) उसने शिव समेत सब देवताओं को विष्णु का रूप बताया है तथापि उसका झुकाव शिव के प्रति था। मेघदूत में (३०. ३४-३६) उसने शिव और उसके मन्दिर महाकाल का विशाल दर्शन किया है। शाकुन्तल के भरत-

---

* मालविका० एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणत-बहु-फले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्ता-संमिश्र-देहोऽप्यविषय-मनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥

विक्रमो० वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥

शाकुन्तल या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

† रघु० वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

वाक्य द्वारा उसके मत का निर्णय हो जाता प्रतीत होता है। ऊपर के ग्रन्थों में ब्रह्मा और विष्णु की उद्धृत की गई प्रशंसा, संभव है कि, प्रस्तुत विषय की आवश्यकता के कारण हो, किन्तु तब भी ऐसी प्रशंसात्मक स्तुति कट्टर शैव की लेखनी से लिखी नहीं जा सकती। हम, इसलिए, न्यायपूर्वक परिणाम निकाल सकते हैं कि धार्मिक विषयों में कालिदास, जैसा कि सर विलियम जोन्ज़ ने कहा है, "स्वस्थ-हृदय" था, और दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि वह "रोगी आत्मा" नहीं था।

महान् यात्री कालिदास ने, प्रतीत होता है कि, बहुत भ्रमण किया था। एक ओर वह काश्मीर में अवश्य ही रहा होगा, और दूसरी ओर दक्षिण के दूरवर्ती कोने में। रघु-दिग्विजय के वर्णन में (४. ३६-५८) इतना तथ्यपूर्ण वर्णन है कि प्रतीत होता है कि अवश्यमेव उसने उन-उन स्थानों को स्वयं देखा होगा। हिमालय का भौगोलिक तथा ठीक-ठीक वर्णन (कुमार० १. १-१६) दिखाता है कि उसने उन रमणीय स्थानों को भी अपनी आँखों देखा होगा। कंकण प्रदेश में बीज बोने से पहले ज़मीन को जलाने की क्रिया का वर्णन बहुत ध्यान देने योग्य है। रघुवंश के १३ वें सर्ग में जब राम पुष्पक विमान द्वारा लौटते हैं, तब लंका से लेकर अयोध्या तक के समस्त प्रदेशों का वर्णन किया गया है।

चरित्र यद्यपि कालिदास के ग्रन्थ शृंगार-सम्बन्धी विषयों का वर्णन करते हैं तथापि वह स्वयं चरित्रवान् पुरुष रहा होगा।* उसने जीवन-सुख का भोग मर्यादा के भीतर रह कर किया होगा। वह गन्धर्व-विवाह के विरुद्ध था। उसने गौतमी द्वारा राजा दुष्यन्त को डाँट बताई है। उसने शार्ङ्गरव द्वारा

---

* अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। (शाकुन्तल ५)
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा। (शाकुन्तल १. २०)
का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥
(रघु० १६. ८)

शकुन्तला को भी झाड़ दी है।[1] जब दुष्यन्त शकुन्तला को स्वीकार नहीं करता, तब वह शाङ्गरव द्वारा कहलाता है :—

इत्थमात्मकृतं चापलं दहति। (शाकुन्तल ५)

कालिदास के ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा निःसन्देह प्रतीत होता है कि वह उच्चकोटि का विद्वान् था। उसे विद्या के विविध अंगों में योग्यता थी। प्रतीत होता है कि उसे वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, सांख्य, योग और वेदान्त तथा पुराणों से पर्याप्त परिचय था। व्याकरण पर उसे पूरी प्रभुता प्राप्त थी। अलंकार-शास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र का उसे पूरा ज्ञान था। चिकित्सा, ज्योतिष (गणित और फलित), संगीत तथा धनुर्वेद में उसकी योग्यता कम न थी। राजनीति तथा काम-शास्त्र में उसका अभ्यास महान् था। धर्मशास्त्र ग्रन्थों से उसका परिचय था। "किन्तु केवल हमें लिखित ग्रन्थों द्वारा ही प्रतीत नहीं होता कि वह बड़ा अध्ययनशील था। विरले ही किसी पुरुष ने इस पृथ्वी-तल पर पैर रखा है, जिसने प्राणियों के व्यवहार का इतना ठीक अध्ययन किया है, जितना उसने, चाहे उसकी सचाई कवि की थी, न कि वैज्ञानिक की।" (प्रोफ़ेसर राइडर)

विद्वत्ता

कालिदास में स्त्री-वर्ग के प्रति आकर्षण था, और वह भी बदले में उसे आकर्षित करता था। वह शिशु-संसार का प्रेमी था और वह भी बदले में उससे प्रेम करता था। उसके ग्रन्थों में स्वस्थ आशा-वाद की सुगन्ध पाई जाती है, जिस पर पदार्थों की क्षण-भङ्गुरता सम्बन्धी विषाद-पूर्ण विचारधारा का कोई प्रभाव नहीं।

विश्व-प्रेम

---

[1] नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकस्य न चरिते भणतु किमेक एकस्मिन्॥ (शाकुन्तल ५.१६)
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥ (शाकुन्तल ३. २४)

(ख) कालिदास के ग्रन्थ और उसकी प्रशंसा

कालिदास के यश से खिंचकर निम्नकोटि के कुछ दूसरे लेखकों ने भी उसे अपने ग्रन्थों का रचयिता बना डाला। इसीलिए कालिदास* को कई एक ग्रन्थों का निर्माता कहा जाता है। किन्तु उसके

ग्रन्थ

खरे ग्रन्थ तो केवल सात प्रतीत होते हैं :—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) ऋतुसंहार, (३) मेघदूत, (४) कुमारसम्भव, (५) विक्रमोर्वशी, (६) अभिज्ञान - शाकुन्तल, तथा (७) रघुवंश।

कालिदास भारत के कवि तथा नाटककारों में सर्व-श्रेष्ठ है। उसे भारत के तथा यूरोप के विद्वानों द्वारा विशेष प्रशंसा

कवि की प्रशंसा

प्राप्त हुई है। बाण जैसे उच्च कोटि के कवि ने भी उसके विषय में प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा है :—

> निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
> प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

एक जन-श्रुति इस प्रकार है :—

> पुरा कवीनां गणना-प्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
> अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव॥

जयदेव ने उसे "कवि-कुल-गुरु" कहा है।

अलंकार-शास्त्र के लेखक आनन्दवर्धन ने उसे "कवि सार्वभौम" की उपाधि दी है। जर्मनी के महाकवि गेटे ने शाकुन्तल पढ़कर उसे भारी प्रशंसा प्रदान की, जिसका भाव यह है :—

"क्या तू नव-वर्ष के पुष्प और क्षीयमाण वर्ष के फल देखने की इच्छा करता है, जिससे आत्मा मन्त्र-मुग्ध, प्रमोद-रत, आह्लादित और

---

* यह भ्रम कदाचित् इस कारण हुआ हो कि संस्कृत के इतिहास में एक से अधिक कालिदास हुए हैं :—

> एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
> शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥ (राजशेखर)

आनन्द-विभोर हो जाती है ? क्या तू स्वर्लोक तथा भूलोक के एक मधुर नाम में मिल जाना चाहेगा ? अरे, (तब) मैं तेरे सामने शकुन्तला का नाम लेता हूँ और बस सब कुछ एक साथ ही कह डाला।"

लेस्सन ने उसे "भारतीय काव्य-गगन का सब से देदीप्यमान तारा कहा है।" यह बिल्कुल ठीक है कि कालिदास की कल्पना श्रेष्ठ तथा तेजस्वी थी और उपमा क्षेत्र में सब से बढ़-चढ़ कर। भारतीय विद्वान् भी उसकी उपमाओं के विषय में कहते हैं:—**"उपमा कालिदासस्य"**। डा० कीथ ने लिखा है:—"वह अपने कार्य की परिपक्वता तथा परिमार्जन के कारण अद्वितीय है।"

"कालिदास के ग्रन्थों का दूसरा व्यापक भाव है बाह्य प्रकृति का प्रेम। निःसन्देह हिन्दू मात्र के लिए, जिसका अवतारवाद में प्रायः स्वाभाविक विश्वास है, मानना सहज है कि समस्त जीवन, पौधे और देवता में,

प्रकृति प्रेम

वास्तव में एक-सा ही है, तब भी हिन्दुओं में से भी किसी ने अपना भाव इतने विश्वासजनक सौन्दर्य के साथ प्रकट नहीं किया है जैसा कालिदास ने। यह कहना बड़ा कठिन है कि वह नदियों, पर्वतों तथा पेड़ों को सजीव बना देता है; उसके लिए तो उनमें सचेत व्यक्तित्व इतना सच्चा और निःसन्देह है कि जितना किसी पशु, पुरुष या देवताओं में।" (**दी एज आव कालिदास : अरविन्द घोष**)

"कालिदास का प्रकृति-ज्ञान सहानुभूतिपूर्ण ही नहीं, वरञ्च यह सूक्ष्म रूप में सही भी है। उसमें अद्भुत समता थी जिस कारण वह राज-प्रासाद और निर्जन स्थान में एक-सी अवस्था में रह पाता था। मैं नहीं जानता कि इस गुण में उसकी किसके साथ तुलना की जाय। शेक्सपियर भी तो, प्राकृतिक सौन्दर्य की ऐन्द्रजालिक दृष्टि रखते हुए, मूलतः मानव-हृदय का कवि है। यह बात कालिदास पर कठिनता से घटती है, न ही यह कहा जा सकता है कि वह मूलतः प्राकृतिक सौन्दर्य का कवि है। दोनों विशेषताएँ उसमें, यही कहा जा सकता है कि, रासायनिक रीति से मिल गई हैं। यह बात मेघदूत में सुन्दर रूप में

मूर्तिमान् है । पूर्व भाग वाह्य प्रकृति का वर्णन है, किन्तु मानवीय भावनाओं से गुथी हुई प्रकृति का; उत्तर-भाग मानव-हृदय का चित्र है किन्तु चित्र प्राकृतिक सौन्दर्य में मढ़ा है। इतनी निपुणता से काम किया गया है कि यह कोई कह नहीं सकता कि कौन-सा भाग श्रेष्ठ है।"

कालिदास प्रेम-प्रदर्शन में अद्वितीय है । उसकी कल्पना श्रेष्ठ तथा तेजस्वी है। वह अपने विशाल और उत्तम भावों को बड़ी सरलता तथा सहज भाव से, बिना लम्बे-लम्बे समास, और

लेखन-शैली

घोखेदार श्लेष तथा वाक्य-रचना के, वर्णन कर देता है। अनुप्रास और यमक का अच्छा प्रयोग किया है। उसकी शैली विशुद्ध और आडम्बर-रहित है। अलंकार-शास्त्र के ज्ञाताओं ने इसका नाम वैदर्भी शैली रखा है। उसकी भाषा में "न तो पुराणों की शिथिलता है, न ही उत्तम काव्य-ग्रन्थों की कृत्रिमता।" अलंकारों में से कालिदास को उपमा * से प्रेम है, और इस क्षेत्र में वह सब को पीछे फेंक देता है (कुमार० ५.५२-६१)। उसने प्रायः उत्प्रेक्षा (कुमार० ५.२५,२७,४१) तथा अर्थान्तरन्यास (कुमार ५.५,३१,६४) तथा दृष्टान्त (कुमार ५.४) का भी सफलता के साथ व्यवहार किया है। यद्यपि उसके ग्रन्थों में उपमाओं की भरमार है, तथापि उनसे कोई उकता नहीं जाता। प्रत्येक उपमा विचित्र चमत्कार और आनन्द लिए हुए है। ध्वनि काव्यार्थ की अनुगामी है। उसकी कविता इस कथन का पूर्ण रूप से अनुमोदन करती है:—"**काव्यस्यात्मा ध्वनिः।**" उसकी शैली में माधुर्य और प्रसाद की प्रचुरता है। भाषा की सरलता और सौन्दर्य के कारण उसके ग्रन्थ लोकोक्तियों और मुहावरों के स्रोत बन गए हैं।

(ग) कालिदास का समय

कालिदास के समय का प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त है। कुछ भी निश्चित नहीं कि उसका व्यक्तिगत जीवन कैसा था, जन्म-स्थान कहाँ था,

---

* **उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।**
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

और कौन-सा समय था जब वह उत्पन्न हुआ। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उसके जन्म के विषय में विविध प्रस्ताव उपस्थित किये हैं :—

बाण ने, जो कि महाराज हर्ष-वर्धन (६०७--६४७ ईस्वी) का राजकवि था, अपने ग्रन्थ हर्षचरित में कालिदास की प्रशंसा इस प्रकार की है :—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ (हर्षचरित, भूमिका १६)

सुबन्धु की वासवदत्ता में शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के शाप का उल्लेख है। यह एक ऐसी घटना है जिसका आविष्कार कालिदास ने किया था और यह महाभारत में अनुपलब्ध है।

छठी शताब्दी उत्तर सीमा

बाण ने हर्षचरित में (१८वाँ पद्य) कहा है कि सुबन्धु ने कवियों के अभिमान को नीचा दिखाया। अतएव कालिदास छठी शताब्दी से पहले रहा होगा। यह कालिदास के समय की उत्तर सीमा निर्धारित हो गई।

भारतीय जन-श्रुति कालिदास को विक्रमादित्य का, जिसने ५७ ईस्वी पूर्व विक्रमी संवत् चलाया, राजकवि बताती है। भारतीय जनश्रुति नीचे का पद इसकी पुष्टि में उद्धृत किया जाता है :—

धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंह-शङ्कु-वेतालभट्ट-घटकर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
(ज्योतिर्विदाभरण २२. १०)

अभिनन्द ने अपने ग्रन्थ रामचरित में लिखा है कि कालिदास को शकारि द्वारा यश प्राप्त हुआ।* यह शकारि, कहा जाता है कि, वही

---

* हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना ।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत् ॥
(रामचरित, मंगलाचरण ३३)

विक्रमादित्य था जिसने शकों को जीत कर ५७ ई० पूर्व में विजय की स्मृति के लिए संवत् चलाया, और वह अब तक प्रचलित है।

वास्तविक कठिनाई तो यह है कि पूर्व समय में कई ऐसे राजा हुए, जिन्होंने विक्रमादित्य उपाधि को ग्रहण किया और इसी तरह कालिदास भी एक से अधिक हुए। राजशेखर ने तीन कालिदास कवियों का उल्लेख किया है। (भूमिका पृष्ठ १०)। इसके अतिरिक्त 'आधुनिक ज्योतिर्विदों के साथ इसी नाम के तीन कवियों का होना इतना निश्चित है कि वे तीन संख्या को दिखाने के लिए कालिदास का नाम ही प्रयुक्त करते हैं। (ज़ेड० डी० एम० जी० २१. ७१३)

तीन कालिदास

"धन्वन्तरि-क्षपणक..." वाला पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है, निःसन्देह विश्वसनीय नहीं। इस पद्य द्वारा सभी लेखक, जो वहाँ गिनाये गए है, समकालीन बन जाते है। यह कल्पना किसी प्रकार भी सत्य प्रमाणित नहीं की जा सकती। इस उद्धरण में कम से कम एक बात सत्य जान पड़ती है, और यहाँ सब प्रमाण सहमत हैं, कि कालिदास और विक्रमादित्य सम्बद्ध हैं। सो विचारणीय बात यह है कि कौन-सा विक्रमादित्य हमारे नाटककार कालिदास का आश्रयदाता था। यहीं सब झगड़ा है। क्योंकि कुछ विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ५७ ईस्वी पूर्व में कोई विक्रमादित्य हुआ, इसलिए उन-उन राजाओं की छान-बीन की गई, जिन्होंने विक्रमादिय उपाधि को ग्रहण किया। इससे कई मत उठ खड़े हुए हैं।

ज्योतिर्विदाभरण के पद्य का मूल्य

होर्नले का कहना है कि विक्रमादित्य जो हमें अभीष्ट है, वह मध्यप्रदेश का यशोधर्मन् था, जिसने हूणों को हराया था, और जिसके आगे मिहिरकुल भी नत-मस्तक हुआ था। परन्तु यह कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया कि यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। होर्नले का विचार है कि रघु-दिग्विजय (रघु० ४) का आधार यशोधर्मन् की

होर्नले और के० बी० पाठक का छठी शताब्दी का मत

विजय है (मंडसोर शिला ५३३ ई०)। डा० ब्लाक का मत है कि रघु-दिग्विजय और समुद्रगुप्त की विजय (समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति) एक जैसी हैं। परन्तु इस मत का भी सत्कार नहीं हुआ। के० वी० पाठक ने रघुवंश में आए हूण शब्द द्वारा बहुत दूर की सोची है। किन्तु इससे प्रमाणित कुछ नहीं होता। हूण जातियों का उल्लेख रामायण और महाभारत में भी है। हूण लोगों का शक्तिशाली राज्य भारत के सीमान्त पर भी तीसरा शताब्दी ईस्वी पूर्व में स्थापित था।

वी. ए. स्मिथ का ५वीं शताब्दी का मत

गुप्त-काल (३००-६५० ईस्वी) साहित्यिक और कला-कौशल के पुनरुद्धार के कारण प्रसिद्ध है। शिला-लेखों के प्रमाण द्वारा प्रकट है कि काव्य की शैली पूर्णतया परिपक्वता को प्राप्त हो चुकी थी। वहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय (३५७--४१३ ईस्वी) और स्कन्दगुप्त (४४५--४८० ईस्वी) जैसे कुछ गुप्त-नरेश थे, जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास किसी एक वा अधिक गुप्त-नरेशों के समय रहा होगा। वी. ए. स्मिथ का कहना है: "यह असम्भव नहीं है कि कालिदास का सर्वप्रथम ग्रन्थ....४१३ ईस्वी से पहले रचा गया हो, अर्थात् जब चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर विराजमान था, किन्तु मेरा झुकाव इस ओर है कि कुमार-गुप्त प्रथम (४१३-४५५ ईस्वी) के शासन-काल में कवि के पिछले ग्रन्थ रचे गये, और यह कदाचित् ऐसा जान पड़ता है, बल्कि सम्भव प्रतीत होता है, कि कवि का समस्त रचना-काल इसी राजा के समय में घटा हो। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि कवि ने स्कन्दगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने के अनन्तर भी लिखना जारी रखा हो।" इस मत के अनुगामी "**आसमुद्रक्षितीशानां**" (रघु० १. ५) और "**आकुमारकथोद्घातं....**" (रघु० ४. २०) में समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के लिए क्रमशः संकेत समझते हैं। यह भी बतलाया जाता है कि कुमारसम्भव कदाचित् कवि ने कुमारगुप्त (४१३-४५५ ईस्वी) के जन्म-उत्सव पर लिखा हो।

डा० कीथ भी इस पर सहमत हैं कि कालिदास गुप्त-काल में उत्पन्न हुआ। उसे "हर बात बताती है कि उसका जन्म गुप्त-काल के स्वर्ण-युग में हुआ; मालविकाग्निमित्र में अश्वमेधयज्ञ का उल्लेख प्रायः अवश्यमेव इसी प्रकार समझना चाहिए कि यह समुद्रगुप्त द्वारा चलाए यज्ञ का स्मृति-चिह्न है"। उसका मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य हमारे नाटककार कालिदास का आश्रयदाता था, जैसा कि नाटक विक्रमोर्वशी के नाम से कदाचित् संकेत किया गया है।"

डा० कीथ का लगभग ४थी शताब्दी का मत

हरिषेण-कृत प्रयाग-प्रशस्ति का शिला-लेख और वत्सभट्टी-कृत मंडसोर का शिला-लेख (४७२--३ ईस्वी) इस पेचीदा पहेली पर बहुत प्रकाश डालते हैं। "केवल शिला-लेख ही समस्त गुप्त-काल में परिपक्व काव्य-शैली के प्रमाणित करने को पर्याप्त हैं।" (ए. बी. कीथ : हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७७) वत्सभट्टी पर कालिदास का बहुत प्रभाव पड़ा है। डा० कीथ का अतएव विचार है कि "कालिदास ४७२ ईस्वी से पूर्व हुआ, और सम्भव है काफ़ी पहले हुआ हो और उसे ४०० ईस्वी के लगभग रखना पूर्णतया उचित प्रतीत होता है।" क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने उज्जयिनी से हूणों को निकाल बाहर किया और वह अपनी राजधानी वहाँ से उज्जयिनी ले गया, इसलिए प्रायः यह माना जाता है कि वही हमारे नाटककार का आश्रयदाता था।

दो प्रशस्तियों का महत्त्व

भारतीय जन-श्रुति के अनुगामी ४थी शताब्दी ईस्वी को अस्वीकार करते हैं। वास्तव में विक्रमादित्य के लिए जो छान-बीन की गई थी, वह इसी लिए थी क्योंकि कोई भी पाश्चात्य विद्वान् पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में किसी विक्रमादित्य का अस्तित्व न मानता था। भारतीय जन-श्रुति के अनुगामी कहते हैं कि धर्म-शास्त्र की साक्षी के अनुसार कालिदास पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ। शाकुन्तल के छठे अंक में धनमित्र

पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व

निःसन्तान मर जाता है और उसकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता है, न कि उसकी स्त्री का। इस बात से पता चलता है कि तब मनु, आपस्तम्ब, और वसिष्ठ स्मृतियों का ज़ोर था। बृहस्पति, लिखित और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ तब लिखी न गई थीं। बृहस्पति स्मृति प्रायः पहली शताब्दी ईस्वी में लिखी मानी जाती है। अतएव वे लोग कालिदास को इस समय से पूर्व हुआ मानते हैं, अर्थात् पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व का इसी प्रकार की साक्षी है चोरी के दण्ड की (देखो, शाकुन्तल अंक ६ प्रवेशक और विक्रमोर्वशी अंक ५. १. **आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः**)। मनु और आपस्तम्ब चोरी के दण्ड के लिए प्राण-दण्ड देते हैं और बृहस्पति विकल्प में रुपये का दण्ड देता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि चोरी का दण्ड सभ्यता के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे कम होता गया है।

शैली की साक्षी

कई विद्वान् शैली की साक्षी के कारण पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व कवि का काल मानते हैं। उनका कहना है कि बाण, सुबन्धु और भवभूति की मध्य-युग की कृत्रिम शैली—जिसमें लम्बे-लम्बे समास, आलंकारिक धोखे और श्लेष थे—का आरम्भ नासिक और गिरनार शिला-लेखों से हुआ था। कालिदास की अकृत्रिम और सरल शैली, जो इन विशेषताओं से रहित थी, इस समय से पहले समय की ओर संकेत करती है, अर्थात् पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व की ओर। उनका विचार है कि शैली के परिवर्तन के लिए चार-पाँच शताब्दियों का व्यतीत हो जाना आवश्यक है।

अश्वघोष और कालिदास

उन विद्वानों ने कुछ समय से एक नई साक्षी का आश्रय लेना आरम्भ किया है। उन्हें अश्वघोष के बुद्धचरित (३. १३-२४) और कालिदास के रघुवंश (७. ५-१७) और कुमारसम्भव (७. ५५-७०) की तुलना इस परिणाम पर विवश करती है कि अश्वघोष कालिदास से प्रभावित हुआ है न कि कालिदास अश्वघोष द्वारा। उन्हें यह बात अश्वघोष के सौन्दरानन्द और कुमारसम्भव से प्रकट होती है। देखो,

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥
(कुमार० ५. ८५)

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥
(सौन्दरा० ४. ४२)

और तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ न तस्थौ यश्चात्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः सदयं सधीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥
(सौन्दरा० ४. ४३)

एक स्थान पर अश्वघोष ने बड़ी हास्यप्रद उपमा दी है :—

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः ।
वपुषाग्र्येण (यो नाम सुन्दरोपपदं दधे) ॥ (सौन्दरा० २. ५८)

यह कहा जाता है कि यहाँ परिवर्तन परिवर्तन के लिए हुआ है। कालिदास का पद्य है :—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । (रघु० १. १३)

"कालिदास ने यहाँ दिलीप की आँखों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके कन्धों की बैल के कन्धों से तुलना की है। बेचारे अश्वघोष ने परिवर्तन करना चाहा, और अपनी चोरी प्रकट कर दी।" (के. सी. चट्टोपाध्याय)

अश्वघोष ने अनुकरण किया है न कि कालिदास ने

वे लोग इस साक्षी से परिणाम निकालते हैं कि कालिदास अश्वघोष का पूर्ववर्ती है। क्योंकि अश्वघोष को शक संवत् के संस्थापक कनिष्क का गुरु कहा जाता है, इसलिए कालिदास को ७८ ईस्वी से पहले का मानना चाहिए। इस प्रकार यदि कालिदास अश्वघोष से पहले हुआ, तो उसे पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में मानना होगा, जो कि जन-श्रुति के अनुसार का समय है। अब पलड़ा उलट गया है। अब यह माना जाने लगा है कि पूर्वकाल में उज्जयिनी में एक विक्रमादित्य हुआ था, जिसने शकों को हरा कर पहली शताब्दी

ईस्वी पूर्व में विक्रम संवत् चलाया था। (कैंब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग १)

परिणाम यह सर्वथा सम्भव जान पड़ता है कि कालिदास ईसा से पहले विक्रमादित्य शकारि के समय में हुआ। हाल की सप्तशती में भी एक विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है। हाल का समय ६८ ईस्वी * कहा जाता है। अतएव एक विक्रमादित्य पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में अवश्य हुआ। यदि विक्रमादित्य पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ, तो वह अवश्य ही विक्रम संवत् का संस्थापक होगा। इस प्रस्ताव के आधार पर यह माना जा सकता है कि कालिदास पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ।

कुमारसम्भव की प्रशंसा

कुमारसम्भव काव्य के शीर्षक से ही प्रकट होता है कि ग्रन्थ का मुख्य विषय कुमार (कार्तिकेय) का जन्म है। (कुमारस्य सम्भवः, स एव भेदोपचारात् कुमारसम्भवम् अर्थात् वह महाकाव्य जिसमें कुमार की उत्पत्ति का वर्णन है।) तारकासुर के नाश के लिए शिव-पार्वती द्वारा उत्पन्न कुमार कार्त्तिकेय देव-सेना का सेनापति होगा, ऐसी भविष्यवाणी की गई थी। इस महाकाव्य के १७ सर्ग हैं। पहले सात सर्गों में शिव-पार्वती की प्रेम-लीला और उनके विवाह का वर्णन किया गया है। आठवाँ और इसके आगे के सर्ग प्रायः पाण्डुलिपिओं तथा मुद्रित संस्करणों में नहीं मिलते। इन सर्गों का विषय अतिशय प्रेम तथा शृंगार को लिए हुए है। आठवें सर्ग में विवाहित वरवधू के आनन्द-अनुभूति का सविस्तर वर्णन है। भारवि, कुमारदास तथा माघ को कदाचित् इस सर्ग का ज्ञान था। आलङ्कारिक ग्रन्थों में इसमें से उद्धृत किया गया है। शेष नौ सर्ग किसी अनाड़ी की रचना प्रतीत होते हैं। कालिदास ने शेष सर्ग क्यों नहीं लिखे, यह

---

* म. म. स्वर्गीय हरिप्रसाद शास्त्री का कहना है कि "'हाल पहली शताब्दी ई० के बाद नहीं रखा जा सकता।' और सप्तशती एक राजा विक्रमादित्य का उल्लेख करती है जो सम्भवतया विक्रमी संवत् का संस्थापक हो।" (एपी. इण्डि. १२, ३२०)

रहस्य है। सम्भव है कि देव-द्वन्द्व के प्रेम-वर्णन के प्रति तत्कालीन तीव्र समालोचना होने के कारण कवि ने आगे लिखना ही छोड़ दिया हो। कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि कवि की मृत्यु के कारण ग्रन्थ अधूरा रह गया हो, परन्तु यह बात असम्भव प्रतीत होती है, क्योंकि रघुवंश कवि की अन्तिम रचना जान पड़ती है। इस महाकाव्य पर बीस से अधिक टीकायें हमारे हाथ लगी हैं। सब से अधिक जन-प्रिय टीका मल्लिनाथ की सञ्जीवनी टीका है। यह ग्रन्थ दृष्टान्तों के लिए प्रसिद्ध है।

कुमारसम्भव का कथानक

सर्ग १. इस सर्ग का आरम्भ हिमालय के वर्णन से होता है। उसकी स्त्री का नाम मेना था, पुत्र का नाम मैनाक था, और पुत्री का पार्वती। पार्वती अपने पूर्व जन्म में शिव की स्त्री सती थी। पार्वती के विवाह के योग्य अवस्था प्राप्त करने पर नारद ने उपस्थित होकर हिमालय से कहा कि उसका विवाह शिव से होगा। अतएव हिमालय ने पार्वती को शिव की सेवा के लिए अनुमति दे दी।

सर्ग २. तारकासुर के अत्याचारों से अत्यन्त पीड़ित होकर देवताओं ने ब्रह्मा की सेवा में उपस्थित होकर उसके अत्याचारों से बचने के उपाय के लिए प्रार्थना की। ब्रह्मा ने उन्हें बताया कि शिव-पार्वती के पुत्र द्वारा तुम्हारा कल्याण होगा। देवताओं ने तब शिव के साथ पार्वती का विवाह शीघ्र ही सम्पन्न करने का उपाय सोचा।

सर्ग ३. देवताओं ने उपाय जो सोचा वह यह था कि कामदेव की सहायता द्वारा शिव के हृदय में पार्वती के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न किया जाय। एक समय तो क्षणमात्र के लिए शिव कामदेव के पाश के वशीभूत हो गये परन्तु तुरन्त ही उन्होंने सचेत होकर कामदेव को तपोभङ्ग करने पर जुटा देखकर उसे अपने तृतीय नेत्र की आग से भस्म कर डाला।

सर्ग ४. कामदेव के भस्म हो जाने पर उसकी स्त्री रति ने घोर विलाप किया और वह सती हो जाने को तैयार होने लगी थी कि किसी देव-वाणी ने उसे सान्त्वना दी और विश्वास दिलाया कि तुम्हारा पति-वियोग अल्प-काल के लिए ही है।

सर्ग ५. देखो, नीचे सविस्तर कथानक।

सर्ग ६. शिव ने सप्तर्षियों को हिमालय के पास पार्वती के साथ पाणिग्रहण का प्रस्ताव देकर भेजा। हिमालय ने उनका बहुत सत्कार किया और उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

सर्ग ७. विवाह के लिए तैयारियाँ शीघ्र ही आरम्भ कर दी गईं। विवाह के निश्चित दिन पर शिव, मित्र-वर्ग सहित, हिमालय के स्थान पर पहुँच गये और पार्वती के साथ विवाह हो गया। बराती लौट आये और शिव वहीं ठहर गये।

सर्ग ८. ससुर के घर में एक महीना ठहरकर शिव पार्वती के साथ विवाह-सुख के उपभोग के लिए गन्ध-मादन पर्वत पर चले गये।

सर्ग ५ का सविस्तर कथानक

पाँचवें सर्ग के आरम्भ में दिखाया गया है कि पार्वती तपोबल द्वारा शिव को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती थी। पुत्री का यह निश्चय सुनकर मेना ने पार्वती को इस उग्र पथ से हटाने का प्रयत्न किया, परन्तु उसका प्रयत्न निष्फल रहा। पिता की आज्ञा पाकर पार्वती ने, वल्कल धारण कर, पर्वत-शिखर का आश्रय लिया और वहाँ कठोर तप में तत्पर हो गई। गेंद के स्थान पर अब उसकी अँगुलियाँ रुद्राक्ष पर पड़ती थीं। फूलों की शय्या के बदले वह अब यज्ञ-भूमि पर, बिना कुछ बिछाये, सोती थी। उसकी बहु-मूल्य भुजा ही उसके लिए तकिया बनती थी। पार्वती ने कठोर तप द्वारा महर्षियों से भी सम्मान प्राप्त किया।

एक दिन ब्रह्मचारी के वेष में, काली मृगच्छाला पहने और पालाश-दण्ड उठाये, शिव ने पार्वती के तपोवन में प्रवेश किया। पार्वती द्वारा अतिथि के योग्य आदर-भाव को प्राप्त होकर शिव ने उसे उसकी आवश्यकताओं आदि के विषय में पूछा और इसके पश्चात् अल्पायु में कठोर तपस्या का कारण जानना चाहा, क्योंकि जो पदार्थ उसे तप द्वारा सिद्ध हो सकते थे, वे तो उसे सब हस्तगत ही थे। उसके गहरे साँसों से ब्रह्मचारी ने समझा कि कदाचित् वह अपना हृदय किसी के प्रेम में खो बैठी है। ब्रह्मचारी ने उसके अभिलषित वर को अपने सौन्दर्य से ठगा गया समझा,

नहीं तो वह पार्वती के सुन्दर मुख और टेढ़ी पलकों के दृष्टि-पात से वञ्चित क्यों रहता ? ब्रह्मचारी ने उसे अपने ब्रह्मचर्याश्रम में इकट्ठे किये तप का आधा भाग प्रदान कर उसका अभिलषित वर के साथ समागम कराना चाहा, परन्तु वह उसे पहले जानना चाहता था।

तब पार्वती की सखी जया ने ब्रह्मचारी को विस्तार-पूर्वक बताया कि कैसे पार्वती शिव के प्रेम-पाश में बँधी है। जब पार्वती ने जया के कथन को ठीक बताया, तब ब्रह्मचारी ने परम आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि विवाह के अवसर पर कैसे पार्वती कंगन बँधे अपने हाथ से शिव के साँप लिपटे हाथ को पकड़ेगी ? कहाँ पार्वती का रेशमी वस्त्र और कहाँ रक्त की बूँदें टपकाता शिव का गज-चर्म ? यह तो कोई शत्रु भी सहन न कर सकेगा कि पार्वती जो फूलों की शय्या पर लेटती थी वह श्मशान-भूमि पर लेटे। इससे भी अनुचित बात तो यह है कि पार्वती की चन्दन लिपी छाती शिव के भस्म सने शरीर से स्पर्श करे! विवाह के उपरान्त पार्वती को शिव के बूढ़े बैल पर बैठे देखकर लोग हँसी करेंगे और उसकी वैसी ही दयनीय अवस्था होगी जैसी शिव के मस्तक पर लगी चन्द्रकला की होती है। ब्रह्मचारी ने शिव की आँखों को कुरूप बताया, उसके माता-पिता की जानकारी में अपना अज्ञान प्रकट किया, और उसकी निर्धनता जतला कर उसे पार्वती के साथ विवाह के अयोग्य ठहराया।

ब्रह्मचारी द्वारा शिव की निन्दा सुनकर पार्वती क्रोध से लाल-पीली हो गई, और एक ओर आँखें तरेर कर उसने अपने अभिलषित वर के पक्ष का समर्थन किया। उसके वचनानुसार शिव को कोई अभिलाषा न थी, और उसे कल्याणकारी रीतियों से कोई सरोकार न था। उसने बताया कि शिव एक पहेली है। वह निर्धन होते हुए भी धन-सम्पत्ति का स्रोत है। श्मशान-भूमि में रहते हुए भी वह त्रिलोकी का नाथ है। कुरूप होते हुए भी किसी एक रूप से रहित है। चिता की भस्म शिव के संसर्ग से पवित्र मानी गई है। ऐरावत पर चढ़ा इन्द्र भी बैल पर बैठे शिव के प्रति अपना मस्तक झुकाता है। सृष्टि-कर्त्ता के विषय में भला कौन जान सकता है ?

इस प्रकार कहते हुए पार्वती को अपार क्रोध ने घेर लिया और उसने अपनी सखी जया को ब्रह्मचारी को आगे कुछ और बोलने से रोकने को कहा। बड़ों की निन्दा सुनना पाप है, ऐसा कहकर पार्वती वहाँ से जाने लगी परन्तु जैसे ही उसने आगे पग बढ़ाया कि ब्रह्मचारी ने अपना वेष उतार दिया और शिव के रूप में प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया। पार्वती काँप उठी, जब वह न आगे बढ़ पाई और न निश्चल खड़ी ही रह सकी, तब शिव ने अपने आपको पार्वती की तपस्या द्वारा क्रीत-दास कहा। पार्वती कठोर तपस्या के परिश्रम को भूल गई।

पञ्चम-सर्गस्य संक्षिप्त-कथा

पार्वती स्वसमक्षं शिवेन भस्मीकृतं कामदेवं दृष्ट्वा भग्नमनोरथा बभूव, स्वरूपं निनिन्द च। सा तपसा शिवं प्राप्त्यर्थं निश्चितवती। तन्माता मेना तु तां मुनिव्रतात् निवारयामास। परं सा दृढनिश्चया मनस्विनी स्वपितुरनुमतिं प्राप्य स्वसखीभिः सह तपःसमाधये गौरीशिखरं जगाम। तत्र च वल्कलं मौञ्जीं जटा अक्षमालाञ्च धृत्वा तपः तेपे। तया विलासचेष्टितं सर्वथा परित्यक्तम्। अनलसा सती सा वनलतापादपान् घटप्रस्रवणैः मृगांश्च वनधान्यैः व्यवर्धयत्। सा विधिवदग्निं जुहाव, वेदाभ्यासमकरोत् च। एवं व्रतध्यानतत्परा सा परं यशः लेभे। ऋषयोऽपि तद्दर्शनार्थं तां समुपागताः। 'धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते।' परं यदा सामान्यतपसा सा फलं न लेभे तदा सा महत्तपश्चचार। ग्रीष्मर्त्तौ सा पञ्चाग्नितपः तेपे, वर्षर्त्तौ सा अनावृतशिलाखण्डमेवाध्यतिष्ठत्। हेमन्तस्य च रात्रीः उदावासतत्परा एव निनाय। अन्ते च तया वृक्षपत्राणामपि भक्षणं परित्यक्तम्। एवं 'अपर्णा' इति नाम्ना प्रसिद्धिं प्राप।

अथ एकदा ब्रह्मचारिवेषधारी कश्चित्तापसः तदाश्रममाजगाम। पार्वत्या यथाविधि सत्कृतः स तां कुशलतां तपःकारणं च पप्रच्छ। पार्वती तु स्वयमुत्तरं न ददौ। सा स्वसखीं प्रतिवक्तुमैक्षत। तदीया सखी तं वर्णिनमुवाच—साधो! तव कुतूहलं चेत् निबोध यदर्थमे-

तया वपुः तपःसाधनं कृतम्। पार्वती पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति। अथ तया तद्वियोगकृतां तदीया दयनीया दशा च निवेदिता। कथं पितुर्गृहे सा न जातु तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि निर्वृतिं लभते स्म। त्रिभागशेषासु निशासु क्षणं नेत्रे निमील्य सहसा 'नीलकंठ! क्व व्रजसीति' अलक्ष्यावाक् असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना सती व्यबुध्यत। तत्प्राप्त्यर्थं पार्वती गुरोराज्ञां प्राप्य अस्माभिः सह तपसे तपोवनं प्रपन्ना। तदा स ब्रह्मचारी शिवस्य अशुभवस्तुप्रीतिम्, सर्पकङ्कणत्वम्, गजाजिनपरिधानत्वम्, श्मशानभूमिनिवासत्वम्, वृद्धोक्षवाहनत्वम्, वपुःविरूपत्वम्, निर्धनत्वं च कथयित्वा तां तन्निश्चयात् निवारयितुमचेष्टत। परं पार्वती प्रत्येकदोषस्य महिमानं गुणत्वं च प्रख्याप्य शिवं प्रति निजदृढनिश्चयं प्रदर्शयामास। तं वटुं पुनरपि किञ्चिद् वक्तुमिच्छुं च दृष्ट्वा सा ततो गन्तुं प्रचक्रमे। तदैव छद्मवेषधारी शिवः स्वकं यथार्थरूपं प्रकटीकृत्य तां जग्राह आत्मानं च तस्यै समर्पयित्वा जगाद च—'अद्य प्रभृति तव तपोभिः क्रीतो दासोऽस्मि।' एतच्छ्रुत्वा पार्वती तपोभवं क्लममुत्ससर्ज। 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।'

वृत्त-वर्णन

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम्।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥

यगण ।ऽऽ	भगण ऽ।।	मगण ।।।
रगण ऽ।ऽ	जगण ।ऽ।	नगण ऽऽऽ
तगण ऽऽ।	सगण ।।ऽ	

वंशस्थ—।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ। (१—८४)

वसन्ततिलका—ऽऽ ।ऽ।।।ऽ ।।ऽ ।ऽऽ

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। (८५-६)

श्रीः

कुमारसम्भवम्

पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥*

अन्वयः—पार्वती समक्षं तथा मनोभवं दहता पिनाकिना भग्नमनोरथा सती हृदयेन रूपं निनिन्द। हि चारुता प्रियेषु सौभाग्यफला (भवति)।

वाच्यपरि०—पार्वत्या ''भग्नमनोरथया सत्या निनिन्दे। '''चारुतया सौभाग्यफलया (भूयते)।

शब्दार्थः—तथा—उस प्रकार। समक्षम्—आँखों के सामने। मनोभव—कामदेव, मनोज। पिनाकिन्—त्रिशूलधारी शिव। भग्नमनोरथा—(शिव-प्राप्ति का) मनोरथ जिस स्त्री का विफल हो गया है। चारुता—सौन्दर्य। सौभाग्यफला—पति-प्रेम जिसका शुभ फल है।

मल्लि०—तथेति। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती तथा तेन प्रकारेण। अक्ष्णोः समीपे समक्षं पुरतः, "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि" इत्यादिना अव्ययीभावः। मनोभवं मन्मथम्। दहता भस्मीकुर्वता। पिनाकिना ईश्वरेण। भग्नमनोरथा भग्नः खण्डितः मनोरथः अभिलाषो यस्याः सा तथोक्ता सती, हृदयेन मनसा। रूपं सौन्दर्यम्। निनिन्द, धिङ् मे रूपम्, यत् हरमनोहरणाय नालमिति गर्हितवतीत्यर्थः। युक्तञ्चैतदित्याह—तथा हि। चारुता सौन्दर्यम्। प्रियेषु पतिषु विषये। (सौभाग्यफला) सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं फलं यस्याः सा तथोक्ता। सौन्दर्यस्य तदेव फलं

यद्भर्तृ सौभाग्यं लभ्यते; नो चेद् विफलं तदिति भावः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्, "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात् ॥ १ ॥

टिप्पणी—पार्वती—पर्वतस्यापत्यं स्त्री, पर्वत-राज हिमालय की पुत्री। **समक्षम्**—अक्ष्णोः समीपे (अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि० पा० २. १. ६) (अव्ययी०); सम्+अक्षि शब्द शरदादिगण के अन्तर्गत है और टच् प्रत्यय जुड़ा है (अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः पा० ५. ४. १०७)। टच् प्रत्यय अक्षि को तब जोड़ा जाता है जब प्रति, पर, सम्, और अनु उपसर्ग लगे हों। देखो, शरदादिगणपाठ—प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः। इससे प्रत्यक्षम्, परोक्षम्, समक्षम्, अन्वक्षम् शब्द बने। **मनोभवम्**—भवतीति भवः, √भू+अप् (ऋदोरप् पा० ३. ३. ५७), मनसो भवः मनोभवः, तम्; 'मनोज, कामदेव'। **पिनाकिना**—पातीति पिनाकः, सोऽस्यास्तीति पिनाकी, तेन। पिनाक शिव के धनुष अथवा त्रिशूल को कहते हैं। **रूपं निनिन्द**—रूप की निन्दा की; निनिन्द—'निन्द' का लिट्। क्योंकि अभिलषित पुरुष के हृदय को वशीभूत करने के लिए कामदेव साधक है, अतएव उसके देहावसान द्वारा शिव से निकट भविष्य में पार्वती के प्रेम की अस्वीकृति सूचित की है। परन्तु कामदेव के नाश के प्रति विलाप करने के बदले पार्वती अपने ही रूप की निन्दा करने लगी, जिससे उसने अपने रूप और कामदेव का परस्पर गहरा सम्बन्ध दिखाया। उसके लिए कामदेव का देहांत उसकी आशाओं का नाश था, क्योंकि सौन्दर्य अभिलषित पुरुषों के हृदयों में प्रेम जाग्रत करता है। 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।' **चारुता**—चारोर्भावश्चारुता, तल्प्रत्यय; 'लावण्य, सौन्दर्य'। **सौभाग्यफला**—सौभाग्यमेव फलं यस्याः सा (बहु०), वह स्त्री सौभाग्यवती है जिसका रूप-सौन्दर्य पति को अपनी ओर खींच सकता है, अन्यथा वह रूप वृथा है। **सौभाग्य**—सुभग+य; हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (पा० ७. ३. १९) के अनुसार सुभग समास के दोनों शब्दों के पहले अक्षर की वृद्धि हो गई है। देखो, सौहार्दम्। यहाँ से ८४ पद्य तक वंशस्थ वृत्त है।

हिन्दी—इस प्रकार अपनी आँखों के सामने शिव द्वारा कामदेव को भस्म हुआ देख पार्वती भग्न-मनोरथ हो गई, हृदय से अपने

रूप की निन्दा करने लगी, क्योंकि पति-विषयक प्रेम प्राप्त करना ही सौन्दर्य का फल है। [१]

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥ २॥

अन्वयः—सा समाधिम् आस्थाय आत्मनः तपोभिः अवन्ध्यरूपतां कर्तुम् इयेष, अन्यथा वा तथाविधं प्रेम तादृशः पतिः च (तत्) द्वयम् कथं अवाप्यते ?

वाच्यपरि०—तथा···ईषे, तादृशं पतिम्···अवाप्नोति।

श०—समाधि—(मन की) एकाग्रता। आस्थाय—आश्रय लेकर। अवन्ध्यरूपता—सफल सौन्दर्य। इयेष—इच्छा की। तथाविध—वैसा। अवाप्यते—प्राप्त किया जाय।

मल्लि०—इयेषेति। सा पार्वती। समाधिम् एकाग्रताम्। आस्थाय अवलम्ब्य। तपोभिः वक्ष्यमाणनियमैः करणभूतैः। आत्मनः स्वस्य। अवन्ध्यरूपतां सफलसौन्दर्यम्। कर्तुम् इयेष इच्छति स्म, तपसा शिवं वशीकर्तुमुद्युक्त इत्यर्थः। अन्यथा तपोऽन्यप्रकारेण। कथं वा तत् द्वयमवाप्यते। किं तत् द्वयम् ? तथाभूता विधा प्रकारो यस्य तत् तथाविधम्। प्रेम स्नेहः, येनार्धाङ्गहरा हरस्य भवेदिति भावः। तादृशः पतिश्च यो मृत्युञ्जय इति भावः। द्वयमेव खलु स्त्रीणामपेक्षितम्, यद् भर्तृवाल्लभ्यं जीवद्भर्तृकत्वञ्चेति। तच्च तपश्चर्यैकसाध्यमिति निश्चिकायेत्यर्थः। अत्र मनुः—

"यद् दुष्करं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम्।
तत् सर्वं तपसा प्राप्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥" इति।

टि०—समाधि—'प्रणिधानं समाधानं समाधिश्च समाश्रयः' इति हलायुधः। आस्थाय—आ+स्था+ल्यप् (य) (समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप् पा० ७. १. ३७)। तपोभिः—करणे तृतीया (कर्तृकरणयोस्तृतीया पा० २. ३. १८)। अवन्ध्यरूपताम्—न वन्ध्यम् अवन्ध्यम् (नञ् तत्पु०), अवन्ध्यञ्च तद्रूपञ्चेत्यवन्ध्यरूपं (कर्म०), तस्य भावस्तत्ता, ताम्, 'सफल रूप'। इयेष—√ इष् 'इच्छा करना' लिट्। पार्वती ने तपोबल

द्वारा अपना रूप-सौन्दर्य सार्थक करने का निश्चय किया। वह अपने रूप द्वारा शिव को आकृष्ट करना चाहती थी परन्तु इस प्रयत्न में वह जब सफल न हुई तब उसने अपने रूप-सौन्दर्य के साथ तपोबल का तेज और कान्ति जोड़ने का संकल्प किया, जिससे कि उसका बाहरी लावण्य और चमचमा उठे। कालिदास ने यहाँ शारीरिक सौन्दर्य के साथ-साथ आध्यात्मिक सौन्दर्य जोड़कर उसे अभीष्ट सिद्धि के योग्य बना दिया है। अन्यथा—तपोबल से भिन्न मार्ग द्वारा। अवाप्यते—अव+√आप् 'प्राप्त करना' लट् कर्मणि प्र० 'पाया जा सकता है'। वैसा प्रेम (तथाविधं प्रेम) और वैसा पति (तादृशः पतिश्च) प्राप्त करना, इसके लिए ऐसी तपस्या की परम आवश्यकता है। गुणात्मक रूप और रूपात्मक गुण द्वारा ऐसा प्रेम और ऐसा पति प्राप्त किया जा सकता है।

हिन्दी—पार्वती ने समाधि को धारण करके अपना रूप सार्थक करने की ठान ली, नहीं तो कैसे यह दोनों प्राप्त किये जा सकते हैं—वैसा प्रेम तथा वैसा पति ? [२]

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां
सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा
निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥

अन्वयः—मेना च गिरीशप्रतिसक्तमानसां तपसे कृतोद्यमां सुतां निशम्य एनां वक्षसा परिरभ्य महतो मुनिव्रतात् निवारयन्ती उवाच।

वाच्यपरि०—मेनया...एषा...निवारयन्त्या ऊचे।

श०—गिरीश—शिव, पर्वत-राज। प्रतिसक्त—आसक्त, अनुरक्त। मानस—मन। निशम्य—सुनकर। वक्षस्—छाती। परिरभ्य—आलिंगन करके। मुनिव्रत—तपस्या। निवारयन्ती—रोकती हुई।

मल्लि०—निशम्येति। मेना मेनका। च। गिरीशप्रतिसक्तमानसां हरासक्तचित्ताम्। तपसे तपश्चरणाय। कृतोद्यमां कृतोद्योगाम्। सुतां, निशम्य श्रुत्वा। एनां पार्वतीम्। वक्षसा परिरभ्य आलिङ्ग्य। महतो मुनिव्रतात् तपसः। निवारयन्ती उवाच। मुनिव्रतादित्यत्र यद्यपि मुनि-

अतस्य मेनकाया अनीप्सितत्वात् "वारणार्थानामीप्सित" इति न अपादानत्वम्, तथाऽपि कृतोद्यमामिति मानसप्रवेशोक्तत्वात् "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इति अपादानत्वमेव स्यात्। यथाह भाष्यकारः—"यच्च मिथ्या सम्प्राप्य निवर्तते तच्च ध्रुवमपायेऽपादानमिति प्रसिद्धम्॥"

टि०—गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्—गिरेः गिरीणां वा ईशः गिरीशः (तत्पु०), तस्मिन् प्रतिसक्तं मानसं यस्याः (बहु०), ताम्, 'जिसका मन शिव पर रम रहा था'। कृतोद्यमाम्—कृत उद्यमो यया (बहु०), ताम्। निशम्य—नि+√शम् ४ पर० 'सुनना'+ल्यप् (य); यहाँ तुलना करो, निशाम्य 'देखकर' उसी धातु से चुरादिगण में। मुनिव्रतात्—मुनेः मुनीनां वा व्रतम्, तस्मात्। यहाँ विश्लेषण के अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग किया गया है, क्योंकि मेनका पार्वती को तपस्या के कठिन मार्ग से रोककर पार्वती तथा तपस्या दोनों को पृथक् करना चाहती है। (ध्रुवमपायेऽपादानम् पा० १. ४. २४) भट्टोजी ने लिखा है—'अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।' यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि यहाँ पञ्चमी का प्रयोग अशुद्ध है क्योंकि पार्वती को जिस काम से रोका जाता है वह 'ईप्सित' नहीं, अर्थात् मेनका की इच्छा नहीं, जो 'निवारयन्ती' क्रिया का कर्त्ता है। 'वारणार्थानामीप्सित' (पा० १. ४. २७) सूत्र के अनुसार यह चाहा जाता है कि निषेधात्मक धातुओं के साथ 'ईप्सित' का पञ्चमी विभक्ति में प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए देखो, 'यवेभ्यो गां वारयति'। यहाँ 'यव' पञ्चमी विभक्ति है, क्योंकि यह 'ईप्सित' है। परन्तु यहाँ उत्तर में यह कहा जा सकता है, जैसा कि 'कृतोद्यमाम्' द्वारा प्रकट होता है, कि पार्वती के हृदय में (शिव की प्राप्ति के लिए) मुनिव्रत अर्थात् तप का साधन करना गहरा प्रवेश कर गया है और उस तप के प्रयत्न को संदिग्ध समझकर मेनका उसे रोकने का प्रयत्न करती है। अतः यह 'अपाय' के अधीन आ जाता है। पा० १. ४. २४ पर भाष्य देखोः—"यच्च मिथ्या सम्प्राप्य निवर्त्तते तच्च ध्रुवमपायेऽपादानमिति प्रसिद्धम्।"

हिन्दी—और मेनका अपनी कन्या (पार्वती) को शिव के प्रति

अनुरक्त मन वाली तथा तपस्या के लिए उद्यत जानकर (सुनकर) उसे छाती से लगाकर महान् मुनि-व्रत से रोकती हुई बोली। [३]

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवता-
स्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं
शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे वत्से ! मनीषिताः देवताः गृहेषु सन्ति, क्व तपः ? क्व तावकं वपुश्च ? पेलवं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य पदं सहेत न पुनः पतत्रिणः ।

वाच्यपरि०....मनीषिताभिः देवताभिः गृहेषु भूयते, तपसा क्व तावकेन वपुषा च क्व (भूयते) । पेलवेन शिरीषपुष्पेण... सह्येत.... ।

श०—**मनीषित**—अभीष्ट । **तावक**--तुम्हारा । **वपुस्**—शरीर । पद्—पग । भ्रमर—भौंरा । पेलव—कोमल । पतत्रिन्—पक्षी ।

मल्लि०—सामान्यनिषेधमुक्त्वा विशेषनिषेधमाह—**मनीषिता इति** । हे वत्से ! मनसा ईषिता इष्टाः **मनीषिताः** 'शकन्ध्वादित्वात् साधुः' । **देवताः** शच्यादयः । **गृहेषु सन्ति**, त्वं ता आराधयेति शेषः । **तपः क्व** । तव इदं **तावकम्**, "युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च" इत्यणप्रत्ययः । "तवकममकावेकवचने" इति तवकादेशः । **वपुः च क्व** । तथा हि **पेलवं** मृदुलम् । **शिरीषपुष्पं, भ्रमरस्य** भृङ्गस्य । **पदं** पदस्थितिम् । **सहेत, पतत्रिणः पुनः** पक्षिणस्तु **पदं न सहेत** अतिसौकुमार्यात् । दिव्योपभोगयोग्यं ते वपुर्न दारुणतपःक्षममित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४ ॥

टि०—**मनीषिताः**—मनसा ईषिताः (तत्पु०), मनस्+ईषित, -शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । यहाँ अस्+ई (मनस+ईषित में) मिलकर ई हो जाते हैं और इस प्रकार पररूप सन्धि हुई । **'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः'** तप तथा तुम्हारे शरीर में भारी विषमता है । दो क्व द्वारा भारी अन्तर दिखाया जाता है । (द्वौ क्वौ शब्दौ महदन्तरं सूचयतः) देखो,

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः । (रघु० १. २.)

तावकम्—युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर एकवचन में तवक और ममक का प्रयोग होता है (तवकममकावेकवचने पा० ४. ३. ३);

यदि अण् और खञ् परे हों (युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च पा० ४. ३. १)। शिरीषपुष्पम्--शिरीषस्य पुष्पम्, शिरीषपुष्प कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। देखो, 'शिरीषकुसुमसदृशं मे हृदयम्' (कादम्बरी पूर्वभाग)। काले ने यहाँ निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया हैः—

परुषस्तपोविशेषस्तव पुनरङ्गं शिरीषसुकुमारम्।
व्यवसितमेतत् कठिनं पार्वति! तद् दुष्करमिति प्रतिभाति॥

पार्वतीपरिणय ३. १६.

हिन्दी—पुत्री ! मन के अभिलषित देवता अपने घर में हैं, कहाँ (कठिन) तपस्या और कहाँ (कोमल) शरीर ! कोमल शिरीष पुष्प भौंरे के पैर को सह सकता है, न कि पक्षी के (पैर को)। [४]

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां
शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात्।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥ ५॥

अन्वयः--इति अनुशासती मेना ध्रुवेच्छां सुताम् उद्यमात् नियन्तुं न शशाक। (तथा हि) ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः निम्नाभिमुखं पयश्च कः प्रतीपयेत् ?

वाच्यपरि०—अनुशासत्या मेनया···शेके। ····केन प्रतीप्येत ?

श०--ध्रुव--स्थिर,दृढ। अनुशासती—उपदेश देती हुई। उद्यम—उद्योग, मुनि-व्रत। नियन्तुम्—रोकने के लिए। ईप्सित—अभीष्ट। अर्थ—वस्तु। स्थिर—दृढ़। निम्न—नीचे। अभिमुखम्—मुँह किये हुए। पयस्—जल। प्रतीपयेत्—लौटा दे।

मल्लि०—इतीति। इति एवम्। अनुशासती उपदिशन्ती। मेना ध्रुवेच्छाम्। सुतां पार्वतीम्। उद्यमात् उद्योगात्तपोलक्षणात्। नियन्तुं निवारयितुम्। न शशाक समर्था नाभूत्। तथा हि ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम् ईप्सितार्थे इष्टार्थे स्थिरनिश्चयम्। मनः निम्नाभिमुखं पयः च कः प्रतीपयेत् प्रतिकूलयेत् प्रतिनिवर्तयेदित्यर्थः। निम्नप्रवणं पय इव इष्टार्थाभिनिविष्टं मनो दुर्वारमिति भावः। अत्र दीपकानुप्राणितोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः॥ ५॥

टि०—ध्रुवेच्छाम्—ध्रुवा इच्छा यस्याः सा (बहु०) ताम्, वह जिसका निश्चय स्थिर है। अनुशासती—अनु+ √ शास्+शतृ+ङीप्, उपदेश दे रही। ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम्—ईप्सिते अर्थे स्थिरः निश्चयः यस्य (बहु०) तत्; ईप्सित—√आप् ५ पर० 'प्राप्त करना' के सन्नन्त का क्तान्त, Past Passive Prtc., √आप् का आ ई में बदल जाता है (आप्ज्ञप्यृधामीत् पा० ७. ४. ५५); 'ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम्' मनः का विशेषण है। निम्नाभिमुखम्—निम्ने निम्नस्य वा अभिमुखम्, नीचे मुँह किये हुए को। प्रतीपयेत्—लौटा दे; प्रतीपय् का विधिलिङ्। प्रतीप—प्रतिगता आपो यस्मिन्; प्रति+ √आप्+अ (ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे पा० ५. ४. ७४)। आप् का आ ई में बदल जाता है (द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् पा० ६. ३. ९७)। इसी प्रकार द्वीप (द्विर्गता आपो यस्मिन्निति), समीप (समाः सङ्गता वा आपो यस्मिन्निति), अन्तरीप आदि। किसी विशेष पदार्थ पर जमा हुआ हृदय वापस नहीं लौट सकता, जैसे नीचे की ओर मुँह किया (अर्थात् बह रहा) जल लौटाया नहीं जा सकता।

"नच निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।" शकु० ३. ९.

हिन्दी—मेना इस प्रकार उपदेश देती हुई अपनी दृढ़ निश्चय (इच्छा) वाली कन्या को उद्योग से रोक न सकी, क्योंकि वाञ्छित वस्तु में स्थिर निश्चय वाले हृदय को और नीचे बहते हुए जल को कौन लौटा सकता है? [५]

कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा
मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः
फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

अन्वयः—(अथ) कदाचित् सा मनस्विनी आसन्नसखीमुखेन मनोरथज्ञं पितरं फलोदयान्ताय तपःसमाधये आत्मनः अरण्यनिवासम् अयाचत।

वाच्यपरि०—"मनस्विन्या तया मनोरथज्ञः पिता" "अयाच्यत।

श०—मनस्विनी—स्थिर चित्तवाली। आसन्न—विश्वस्त। उदय—उत्पत्ति, प्राप्ति, लाभ। अन्त—अवधि। अयाचत—प्रार्थना की।

मल्लि०—कदाचिदिति । अथ कदाचित् मनस्विनी । स्थिरचित्ता सा पार्वती । मनोरथज्ञम् अभिलाषाभिज्ञम् । पितरं हिमवन्तम् । आसन्न-सखीमुखेन आसन्नसखी आप्तसखी सैव मुखम् उपायः, "मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि" इति विश्वः, तेन । फलोदयान्ताय फलोदयः फलोत्पत्तिः अन्तोऽवधिर्यस्य तस्मै । तपःसमाधये तपोनियमार्थकम् । आत्मनः स्वस्य । अरण्यनिवासं वनवासम् । अयाचत । "दुह्याच्" इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् ॥ ६ ॥

टि०—मनस्विनी—प्रशस्तं मनो यस्याः सा, मनस्+विन् (अस्मायामेधास्रजो विनि पा० ५. २. १२१) + ङीप् ; इसी प्रकार तपस्विनी आदि । मनोरथज्ञम्—मनोरथ—मन एव रथोऽत्र, मनो रथ इव वा; ज्ञ—जानातीति, √ज्ञ + क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३. १. १३५); मनोरथस्य ज्ञः मनोरथज्ञस्तम् । आसन्नसखीमुखेन—आसन्ना चासौ सखी आसन्नसखी, सा एव मुखं (कर्म०), तेन अथवा आसन्नायाः सख्याः मुखेन (तत्पु०), 'अपनी विश्वस्त सखी द्वारा' । आसन्न—आ+√सद्+क्त (गत्यर्थाकर्मक० पा० ३. ४. ७२) । देखो, मालविका० 'आसन्नदारिकां दृष्ट्वा' । मुख—यहाँ इसका प्रयोग उपाय के अर्थ में हुआ है । देखो,

'मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि ।
सन्ध्यन्तरे नाटकादेः शब्देऽपि च नपुंसकम् ।' मेदिनी

फलोदयान्ताय—फलस्य उदयः फलोदयः, स एव अन्तः यस्य (बहु०), तस्मै, 'फल के लाभ की अवधि तक' । तपःसमाधये—तपसः समाधिः, तस्मै । अरण्यनिवासम्—अरण्ये निवासस्तम्, वनवास । अयाचत—√याच् द्विकर्मक है, 'अरण्यनिवासम्' प्रधान कर्म तथा 'पितरम्' गौण कर्म है ।

हिन्दी—कभी स्थिरचित्त वाली उस (पार्वती) ने अपना मनोरथ जानने वाले पिता (हिमालय) से विश्वस्त सखी के मुख द्वारा फल के लाभ पर्यन्त तप और नियम करने को अपने लिए वनवास की प्रार्थना की । [६]

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा
कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।

प्रजासु पश्चात् प्रथितं तदाख्यया
जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत् ॥ ७ ॥*

अन्वयः—अथ गौरी अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा गरीयसा गुरुणा कृताभ्यनुज्ञा पश्चात् प्रजासु तदाख्यया प्रथितं शिखण्डिमत् शिखरं जगाम।

वाच्यपरि०—....गौर्या....कृताभ्यनुज्ञया....(सत्या) जग्मे।

श०—अनुरूप—योग्य। अभिनिवेश—आग्रह, हठ। गरीयस्—पूज्यतम। अभ्यनुज्ञा—अनुमति। प्रथित—प्रसिद्ध। शिखण्डिमत्—मोरों से भरपूर। शिखर—चोटी।

मल्लि०—अथेति। अथ गौरी (अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा) अनुरूपेण योग्येन अभिनिवेशेन आग्रहेन तुष्यतीति तथोक्तेन। गरीयसा पूज्यतमेन। गुरुणा पित्रा। कृताभ्यनुज्ञा 'तपः कुरु' इति कृतानुमतिः सती। पश्चात् तपःसिद्ध्युत्तरकालम्। प्रजासु जनेषु। तदाख्यया तस्या गौर्याः संज्ञया। प्रथितं गौरिशिखरमिति प्रसिद्धमित्यर्थः। शिखण्डिमत् न तु हिंस्रप्राणिप्रचुरमिति भावः। शिखरं शृङ्गम्। जगाम ययौ ॥ ७ ॥

टि०—अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा—अनुमतं रूपं यस्य सः अनुरूपः (बहु०), 'योग्य', अनुरूपः यः अभिनिवेशः, तेन तुष्यतीति अनुरूपाभिनिवेशतोषी, तेन, 'योग्य आग्रह से प्रसन्न हुए (पिता) द्वारा'। अभिनिवेश—अभि + नि + √ विश् ६ आ० + घञ्, 'आग्रह, लगन, हठ'; देखो, मालविका० 'प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेशकारी'; अर्थात् 'दुष्प्राप्य वस्तुओं की इच्छा करना'; देखो, विक्रम० 'अहो नु खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः'। तोषिणा—तुष्+णिनि, तृतीया एक०। गरीयसा—गुरु+ईयसुन्=गरीयस् (द्विवचनविभज्योपपदे तरप् ईयसुनौ पा० ५. ३. ५७), इसी प्रकार इष्ठन् जोड़कर गरिष्ठ; इसी प्रकार लघीयस् लघिष्ठ; वरीयस् वरिष्ठ। कृताभ्यनुज्ञा—कृता अभ्यनुज्ञा यस्याः सा (बहु०), जिसने अनुमति पा ली थी। तदाख्यया—तस्याः आख्या तया, उसके नाम से। प्रथित—प्रथ्+क्त 'प्रसिद्ध'। शिखण्डिमत्—शिखण्डोऽस्यास्तीति शिखण्डी; शिखण्ड+इन्, 'मोर'। शिखण्डिनः सन्त्यस्मिन्निति शिखण्डिमत्, शिखण्डि+मतुप् (तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा० ५. २. ९४)।

हिन्दी—तदनन्तर गौरी के योग्य आग्रह से प्रसन्न हुए पूज्यतम पिता द्वारा अनुमति पाने पर पार्वती मोरों से भरपूर शिखर पर गई, जो पीछे से उसके (गौरी-शिखर) नाम से लोगों में प्रसिद्ध हुआ। [७]

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया
विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं ।
पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥

अन्वयः—अहार्यनिश्चया सा विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनं हारं विमुच्य बालारुणबभ्रु पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति वल्कलं बबन्ध।

वाच्यपरि०—अहार्यनिश्चयया तया......बबन्धे।

श०—अहार्य—न बदलनेवाला, दृढ़। विलोल—चंचल। यष्टि—लड़ी। प्रविलुप्त—पौंछा हुआ। चन्दन—चन्दन-लेप। अरुण—लाल। बभ्रु—पिङ्गलवर्ण। पयोधर—स्तन। उत्सेध—ऊपर उठा होना। विशीर्ण—हटा हुआ। संहति—सम्पर्क। वल्कल—छाल का वस्त्र। बबन्ध—बाँध लिया।

मल्लि०—विमुच्येति। अहार्यनिश्चया अनिवार्यनिश्चया। सा गौरी। विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनं विलोलाभिः चलाभिः यष्टिभिः प्रतिसरैः प्रविलुप्तं प्रमृष्टं चन्दनं स्तनान्तर्गतं येन तं तथोक्तम्। हारं मुक्तावलीम्। विमुच्य विहाय। बालारुणबभ्रु बालार्कपिङ्गलम्। पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति पयोधरयोः स्तनयोः उत्सेधेन उच्छ्रायेण विशीर्णा विघुटिता त्रुटिता संहतिः अवयवसंश्लेषो यस्य तद् तथोक्तम्। वल्कलं कण्ठलम्बि स्तनोत्तरीयभूतम्। बबन्ध धारयामास इत्यर्थः ॥ ८ ॥

टि०—अहार्यनिश्चया—न हार्यः (√हृ+ण्यत्) अहार्यः (नञ् तत्पु०), अहार्यो निश्चयो यस्याः सा (बहु०), दृढ़ निश्चयवाली। विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्—विशेषेण लोलाः विलोलाः, ताभिः यष्टिभिः प्रविलुप्तं चन्दनं येन (बहु०) तम्, जो हिलती हुई लड़ियों से चंदन-लेप को पौंछ रही थी। यष्टि—हारलता ('यष्टि हारलताशस्त्रभेदयोः' विश्व)। बालारुणबभ्रु (नपुं०) 'वल्कलम्' का विशेषण है; बालश्चासौ

अरुणः बालारुणः, स इव बभ्रु (कर्म०) तत्, नये उदय हुए सूर्य के समान रक्तवर्ण। अरुण—√ऋ 'जाना' (अर्तेश्च उ०. ३. ६०)+उनन्, सूर्य। देखो, 'अरुणो भास्करेऽपि स्याद्वर्णभेदेऽपि च त्रिषु।' अमर।

इसका अर्थ 'नया उदय हुआ सूर्य' भी है। देखो--

अरुणोऽव्यक्तरागेऽर्के संध्यारागेऽर्कसारथौ।

निःशब्दे कपिले कुष्ठभेदे ना गुणिनि त्रिषु॥ मेदिनी।

'प्रातःकालीन सूर्य' के अर्थ में देखो—'तरुणारुणांशुकपिला' कुंदमाला १. २। बभ्रु—पिङ्गलवर्ण। देखो,

'बभ्रुर्विशाले नकुले कृशानावग्रजे मुनौ शूलिनि पिङ्गले च।' विश्व। पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति—(नपुं०) 'वल्कलम्' का विशेषण है। पयसः धरौ पयोधरौ, पयोधरयोः उत्सङ्गेन विशीर्णा संहतिर्यस्य (बहु०) तत्, जिसका दृढ़ सम्पर्क स्तन-युगल के ऊपर उठे होने से हट गया; उत्सेध—उत् + √सिध् + घञ् (भावे पा० ३. ३. १८), ऊपर उठा होना। ('उत्सेधः काय उन्नतिः' अमर)। संहति—सम् + √हन् + क्तिन्, 'सम्पर्क'।

हिन्दी--स्थिर निश्चयवाली उस (पार्वती) ने हिलती हुई लड़ियों से चन्दन को मिटानेवाली माला को छोड़कर नये उदय हुए सूर्य के समान पिङ्गल वर्ण का वल्कल बाँध लिया, जिसका दृढ़ सम्पर्क स्तन-युगल के ऊपर उठे होने से (अंगों के साथ से) हट गया। [८]

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहै-
र्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं
सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते॥ ९॥*

अन्वयः—तदाननं प्रसिद्धैः शिरोरुहैः यथा मधुरम् अभूत् जटाभिः अपि एवम् मधुरम् अभूत्। पङ्कजं षट्पदश्रेणिभिः एव न (अपितु) सशैवलासङ्गम् अपि प्रकाशते।

वाच्यपरि०—तदाननेन ...मधुरेण अभावि। पङ्कजेन....सशैवलासङ्गेनापि प्रकाश्यते।

श०—आनन—मुख। प्रसिद्ध—सजा हुआ। शिरोरुह—केश। मधुर—प्रिय, सुन्दर। पङ्कज—कमल। षट्पद—भौंरा। श्रेणि—पंक्ति। शैवल—काई, सेवाल। आसङ्ग—सम्पर्क।

मल्लि०—यथेति। तस्या देव्या आननं तदाननम्। प्रसिद्धैः भूषितैः "प्रसिद्धौ ख्यातभूषितौ" इत्यमरः। रोहन्तीति रुहाः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः। शिरसि रुहाः तैः शिरोरुहैः मूर्धजैः। यथा मधुरं प्रियम् अभूत्, "स्वादुप्रियौ तु मधुरौ" इत्यमरः। जटाभिरप्येवं मधुरम् अभूत्। तथाहि पङ्कजं पद्मम्। षट्पदश्रेणिभिः भ्रमरपङ्क्तिभिः एव न, किन्तु सह शैवलासङ्गेन सशैवलासङ्गमपि। "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः। प्रकाशते शैवलेनापि शोभत एव इत्यर्थः॥ ६॥

टि०—तदाननम्—तस्या आननम्। प्रसिद्ध—भूषित, अलंकृत; देखो ('प्रसिद्धौ ख्यातभूषितौ।' अमर)। शिरोरुह—शिरसि रोहन्तीति शिरोरुहाः; शिरस् +√रुह् + क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३. १. १३५), केश। पङ्कज—पङ्के पङ्काद्वा जायत इति तत्। षट्पदश्रेणिभिः—षट् पदान्येषाम् षट्पदाः तेषां श्रेणिभिः, 'भ्रमर-पंक्ति द्वारा'। सशैवलासङ्गम्—शैवलानाम् आसङ्गः शैवलासङ्गः (षष्ठी तत्पु०), तेन सह वर्त्तमानं तत् (बहु०), 'काई के साथ'। शैवल—√शी + वलञ् (शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः उ० ४.३८), (शैवलः 'जले शेते तिष्ठति'इति), सेवाल। देखो,

'जलनीली तु शेवालं शैवालः' अमर।

'शेवलश्चैव शेवालः शैवलो जलनीलिका' वाचस्पति।

आसङ्ग—कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि कुरूप वस्तु भी वास्तव में सुन्दर पदार्थ की सुन्दरता को कम नहीं कर पाती। देखो,

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्' शाकु० १. २०.

हिन्दी—उसका मुख (पुष्पों के अलंकार धारण करने से) सजे बालों द्वारा जैसे प्रिय प्रतीत होता था, जटाओं से भी वैसा ही (प्रिय) प्रतीत होता था। कमल केवल भ्रमर-पंक्ति से ही सुशोभित नहीं होता है, किन्तु काई के साथ होने पर भी शोभायमान होता है। [६]

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां
व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया
सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥ १० ॥

अन्वयः—व्रताय सा प्रतिक्षणं कृतरोमविक्रियां त्रिगुणां यां मौञ्जीं बभार तत्पूर्वनिबद्धया तया अस्याः रसनागुणास्पदं सरागम् अकारि ।

वाच्यपरि०—तया व्रताय प्रतिक्षणं कृतरोमविक्रिया त्रिगुणा या मौञ्जी""बभ्रे, तत्पूर्वनिबद्धा सा अस्याः रसनागुणास्पदं सरागम् अकार्षीत् ।

श०—प्रतिक्षणम्—हर क्षण । रोमविक्रिया—रोमांच । त्रिगुण—तीन डोरों की । मौञ्जी—मुंज की बनी तगड़ी । निबद्ध—बँधी हुई । रसना—तगड़ी । गुण—डोरा । आस्पद—स्थान । राग—लाल रंग ।

मल्लि०—प्रतीति । सा देवी । प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे । कृतरोमविक्रियां पारुष्यात् कृतरोमाञ्चाम् । त्रिगुणां—त्रिरावृत्ताम् । यां मौञ्जीं मुञ्जमयीं मेखलाम् । व्रताय तपसे । बभार । (तत्पूर्वनिबद्धया) तदेव पूर्वं प्रथमं यस्य तत्पूर्वं यथा तथा निबद्धया । तया मौञ्ज्या । अस्याः देव्याः । (रसनागुणास्पदं) रसनागुणस्याऽऽस्पदं स्थानं जघनम् । सह रागेण सरागं सलोहितम् । अकारि कृतम्, सौकुमार्यातिशयादिति भावः ॥ १० ॥

टि०—प्रतिक्षणम्—क्षणे क्षणे इति (अव्ययी०), इससे 'वीप्सा' बारबार का बोध होता है । कृतरोमविक्रियाम्—कृता रोम्णां विक्रिया यया (बहु०), ताम्, 'जिससे रोमांच होता था' । मुंज की बनी तगड़ी के कठोर होने से रोमांच हो जाता है । देखो, 'पारुष्यात्कृतरोमाञ्चाम्' । त्रिगुणाम्—त्रयो गुणा यस्याः (बहु०), ताम्; 'तीन डोरों की बनी, तीहरी' । ब्राह्मण को मुंज की तीन डोरों की बनी तगड़ी पहनने की आज्ञा है ।

"मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥" मनु

तत्पूर्वनिबद्धया—तदेव पूर्वं तत्पूर्वं यथा स्यात्तथा निबद्धया, 'पहली बार बाँधी गई' । रसनागुणास्पदम्—रसनायाः गुणः रसनागुणः, 'तगड़ी का डोरा', तस्य आस्पदम्; आस्पदम्—आपद्यतेऽस्मिन्निति (आस्पदं

प्रतिष्ठायाम् पा० ६. १. १४६) । अमर ने 'आस्पद' शब्द का प्रयोग प्रतिष्ठाकृत्य के अर्थ में किया है 'प्रतिष्ठाकृत्यमास्पदम्' । यहाँ यह केवल साधारण स्थान के अर्थ में हुआ है । इस अर्थ के लिए देखो, 'आस्पदं पदकृत्ययोः' मेदिनी । सरागम्—रागेण सह वर्तत इति (बहु०), लाल । अकारि—√कृ ८ उभय० लुङ् कर्मवाच्य ।

हिन्दी—उसने तपस्या के लिए प्रतिक्षण रोमांच करनेवाली जिस तीहरी मुंज की बनी हुई तगड़ी को धारण किया था, पहली बार बन्धी हुई उस तगड़ी ने उसकी कमर को लाल कर दिया । [१०]

विसृष्ट रागादधरान्निवर्त्तितः
स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादान परिक्षताङ्गुलिः
कृतोऽक्षसूत्र-प्रणयी तया करः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तया विसृष्टरागात् अधरात् स्तनाङ्गरागारुणितात् कन्दुकात् च निवर्त्तितः कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः करः अक्षसूत्रप्रणयी कृतः ।

वाच्यपरि०—सा...निवर्त्तितं करं कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिम् अक्षसूत्रप्रणयिनं कृतवती ।

श०—विसृष्ट—त्यक्त, रहित । राग—रंग । अधर—निचला होंठ । अङ्गराग—उबटन । अरुणित—लाल किया गया । कन्दुक—गेंद । परिक्षत—घायल । अक्षसूत्र—माला । प्रणयिन्—प्रेमी ।

मल्लि०—विसृष्टेति । तया देव्या । विसृष्टरागात् त्यक्तलाक्षारस-रञ्जनात् । अधरात् अधरोष्ठात् । निवर्त्तितः, निसृष्टरागात् इति पाठे नितरां त्यक्तलाक्षारागात् । रागत्यागेन निष्प्रयोजनत्वादिति भावः । तथा (स्तनाङ्गरागारुणितात्) स्तनाङ्गरागेणारुणितादरुणीकृतात्, पतनसमये तस्य स्तनयोरुपरोधादिति भावः । कन्दुकात् च निवर्त्तितः । कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः—कुशस्य अङ्कुराणामादानेन परिक्षताः व्रणिताः अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः । करः पाणिः । अक्षसूत्रप्रणयी अक्षमाला-सहचरः । कृतः ॥ ११ ॥

टि०—विसृष्टरागात्—विसृष्टः रागः यस्य (बहु०), तस्मात्, जिससे रंग हट गया था। अधरात्—निचले होंठ से; अधरः—न धरतीति √धृ+अच् (पचाद्यच् पा० ३. १. १३४); यद्वा धरादुच्चात्कठिनाद्वान्यः (देखो, 'अधरस्तु पुमानोष्ठे हीनेऽनूर्ध्वेऽपि वाच्यवत्।' मेदिनी)। स्तनाङ्गरागारुणितात्—स्तनयोः अङ्गरागः स्तनाङ्गरागः (तत्पु०), तेन अरुणितस्तस्मात्; अङ्गराग—अङ्गानां रागः, 'उबटन'। देखो, 'विच्छित्तिः स्त्रीकषायोऽङ्गरागके' रभसः। अरुणितात्—अरुण (√ऋ+उनन्)+इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् पा० ५. २. ३६), लाल किया गया। निवर्तित—हटाया गया। कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः—कुशस्य अङ्कुराणाम् आदानेन परिक्षताः अङ्गुलयो यस्य (बहु०) सः, 'जिसकी अंगुलियाँ नये कुश के तोड़ने से छिद गई थीं'। अंकुर—अंकि+उरच् (मन्दिवाशिमथि० उरच् ३. १. ३८), (देखो, 'अङ्कुरोऽभिनवोद्भिदि।' अमर; अङ्कुरो रोम्णि सलिले रुधिरेऽभिनवोद्गमे।' हैम)। अक्षसूत्रप्रणयी—अक्षाणां सूत्रः अक्षसूत्रः, तस्य प्रणयी। अक्षसूत्र—रुद्राक्ष-माला। अक्ष, जिसका अर्थ 'बीज' है, विशेष रूप से शिव को प्रिय होने के कारण, रुद्राक्ष कहलाने लगा। पार्वती ने शृंगार की वस्तुओं से अपना मन हटाकर तप और व्रत की ओर लगा लिया।

हिन्दी—उसने अधरोष्ठ को रंगने तथा स्तन-युगल के (कुंकुम आदि) रंगों द्वारा लाल हुए गेंद खेलने से अपना हाथ हटाकर रुद्राक्ष-माला का प्रेमी बनाया और उसके हाथ की अंगुलियाँ कुशांकुरों के तोड़ने से छिद गई थीं। [११]

महार्ह-शय्या-परिवर्त्तन च्युतैः
स्वकेश पुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी
निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥

अन्वयः—महार्हशय्यापरिवर्त्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैः अपि या (पार्वती) दूयते स्म सा केवले स्थण्डिले बाहुलतोपधायिनी एव अशेत निषेदुषी च।

वाच्यपरि०—....यया दूयते ....तया बाहुलतोपधायिन्या.... अशय्यत निषेदे च ।

श०—महार्ह—बहुमूल्य । परिवर्तन—लोटना । दूयते स्म—दुःखी होती थी । उपधान—तकिया । स्थण्डिल—भूमि । निषेदुषी—बैठती थी ।

मल्लि०—महार्हेति । महार्हशय्यापरिवर्त्तनच्युतैः महान् अर्हो मूल्यं यस्याः सा महार्हा श्रेष्ठा या शय्या तस्यां परिवर्त्तनेन लुण्ठनेन च्युतैः भ्रष्टैः । स्वकेशपुष्पैः अपि, सा देवी । दूयते स्म क्लिश्यति स्म, पुष्पाधिक-सौकुमार्यादिति भावः । सा देवी बाहुलताम् उपधत्ते उपधानीकरोतीति बाहुलतोपधायिनी सती । केवले संस्तरणरहिते । स्थण्डिले भूमौ । एव अशेत शयितवती, तथा निषेदुषी उपविष्टा च । 'क्वसुश्च' इति क्वसुः, उगितश्च इति ङीप् । भूमौ एव शयनादिव्यवहारो न जातूप-रीत्यर्थः ॥ १२ ॥

टि०—महार्हशय्यापरिवर्त्तनच्युतैः—महान् अर्हो यस्याः सा महार्हा, महार्हायां शय्यायां तत् परिवर्त्तनं तैः च्युतानीति महार्हशय्या-परिवर्त्तनच्युतानि तैः, बहुमूल्य शय्या पर लोटने से गिरे हुए । स्वकेशपुष्पैः—स्वस्याः केशाः स्वकेशाः, तेषां पुष्पाणि तैः, 'केशों में लगे फूलों से' । दूयते—√दू 'पीड़ा अनुभव करना' । बहुमूल्य शय्या पर केशों के फूलों के गिरने से पार्वती को पीड़ा होती थी, इससे उसके शरीर की कोमलता का परिचय प्राप्त होता है । कवि लोग प्रायः नायिका के अंगों की कोमलता का वर्णन करते हैं । नागानन्द में नायक इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि नायिका का हाथ जो फूल के तोड़ने में भी असमर्थ था, फाँसी का फंदा किस प्रकार पकड़ सका । देखो,

न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमीदृक्
व्यपनय करमेतं पल्लवाभं लतायाः ।
कुसुममपि विचेतुं यो न मन्ये समर्थः
कलयति स कथं ते पाशमुद्बन्धनाय ॥ २. ११.

मालतीमाधव नाटक में कहा गया है कि मालती अपनी सखियों द्वारा हँसी में उसके ऊपर फेंके गये शिरीष पुष्पों से भी पीड़ित होती थी । देखो,

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् । ९. ३१.

बाहुलतोपधायिनी—प्रशस्तो बाहुः बाहुलता, 'लता रूपी भुजा', बाहुलताम् उपधत्ते इति सा; उप + √ धा + णिनिः (व्रते पा० ३. २. ८०)+ङीप्; उप+√धा+ल्युट् का अर्थ है 'तकिया' अर्थात् भुज-लता का तकिया बनानेवाली । स्थण्डिल—स्थलन्त्यस्मिन्निति, 'यज्ञभूमि' । देखो,

'यज्ञार्थं परिष्कृताया अनिम्नोन्नताया यज्ञभूमेः ।' मुकुट

निषेदुषी—नि+√सद् + क्वसु (भाषायां सदवसश्रुवः पा० ३. ४. १०८) + ङीप् (उगितश्च पा० ४. १. ६); निषेदिवस् का कर्ता विभक्ति एक०, नि + √सद् 'लेटना, बैठना' । देखो,

निषेदुषीमासनबन्धधीरः । (रघु०)

हिन्दी—बहुमूल्य शय्या पर लोटने से गिरे हुए अपने केशों के फूलों से भी जो कष्ट मानती थी, वह (पार्वती) अपनी भुज-लता का तकिया बनानेवाली केवल (अनाच्छादित; बिना कुछ बिछाये) यज्ञ-भूमि पर (रात में) सोती और (दिन में) बैठती थी । [१२]

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया
द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलास-चेष्टितं
*विलोल-दृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥ १३ ॥**

अन्वयः—नियमस्थया तया द्वयेऽपि द्वयं पुनः ग्रहीतुं निक्षेपम् अर्पितम् इव, तन्वीषु लतासु विलासचेष्टितं हरिणाङ्गनासु विलोलदृष्टं च ।

वाच्यपरि०—नियमस्था सा...निक्षेपम् अर्पितवती... ।

श०—नियम—व्रत । निक्षेप—धरोहर । तन्वी—सूक्ष्मांगी । विलासचेष्टित—विलास लीला । अङ्गना—स्त्री । विलोल—चंचल ।

मल्लि०—पुनरिति । नियमस्थया व्रतस्थया । तया देव्या । द्वयेऽपि द्वयं पुनः ग्रहीतुम् पुनरानेतुम् । निक्षेपः अर्पितमिव निक्षेपत्वेन अर्पितं किमु ! क्वचित् 'द्वयीषु' इति प्रामादिकः पाठः । कुत्र द्वये किं द्वयम् अर्पितमित्याह—तन्वीषु लतासु । विलास एव चेष्टितं विलासचेष्टितम् ।

हरिणाङ्गनासु। विलोलदृष्टं चञ्चलावलोकितम् च। व्रतस्थायां तस्यां तयोरदर्शनाल्लतादिषु दर्शनाच्च अर्पितम् इवेत्युत्प्रेक्षा, न तु वस्तुतोऽर्पणमस्तीति भावः ॥ १३ ॥

टि०—**नियमस्थया**—नियमे तिष्ठतीति नियमस्था (उपपद०), तया, नियम+स्था+क (आतोऽनुपसर्गे कः पा० ३. २. ३) + आ, नियम का यहाँ अर्थ 'तपस्या' है। **द्वयम्**—द्वि+अयच् (द्वित्रिभ्यां तयस्य अयज्वा पा० ५. २. ४३)। द्वि और त्रि के आगे त्यप् के बदले विकल्प में अयच् प्रत्यय लगता है, इस प्रकार द्वयम् और त्रयम् रूप बने। तयप् प्रत्यय द्वारा द्वि और त्रि के द्वितयम्, त्रितयम् रूप वने। (संख्याया अवयवे तयप् पा० ५. २. ४२)। **अर्पित**—रख दी गई। **तन्वीषु**—तन्वी, तनु 'सूक्ष्म'; तनु—√तन् + उ (अतिपृवपियजितनि० उ० २. ११७)। इसी प्रकार अरुः, परुः, वपुः, यजुः। तनु के विविध अर्थों के लिए देखो,

'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात्त्रिष्वल्पे विरले कृशे।' मेदिनी

विलासचेष्टितम्—विलास एव चेष्टितम् (कर्म०), विलास लीला। विलास—स्त्रियों की कामात्मक चेष्टा का सूचक विशेष संकेत। स्त्रियों के अठारह आभूषणों में से विलास एक आभूषण कहा गया है। देखो,

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ॥ साहित्यदर्पण

हरिणाङ्गनासु—हरिणानाम् अङ्गनाः हरिणाङ्गनाः (तत्पु०); हरिणियाँ; तासु हरिणाङ्गनासु। **विलोलदृष्टम्**—विलोलं च तद् दृष्टं तत् (कर्म०), चंचल दृष्टि।

हिन्दी – नियमों को पालनेवाली उस (पार्वती) ने दोनों में दोनों (वस्तुएँ) फिर ले लेने के लिए मानो धरोहर रख दी – कोमल लताओं के पास विलास लीला और हरिणियों के पास चंचल दृष्टि। [१३]

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तन-प्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्त-जन्मनां
न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ १४ ॥

अन्वयः—सा स्वयमेव अतन्द्रिता सती वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैः व्यवर्धयत्, गुहः अपि प्रथमाप्तजन्मनां येषां पुत्रवात्सल्यं न अपाकरिष्यति।

वाच्यपरि०—तया अतन्द्रिता (सत्या) वृक्षका....व्यवर्ध्यन्त, गुहेन अपाकरिष्यते।

श०—अतन्द्रिता—आलस्य रहित होकर। वृक्षक—पौधा। प्रस्रवण—दूध की धार। व्यवर्धयत्—पाला, बढ़ाया। आप्त—प्राप्त, लब्ध। पुत्रवात्सल्य—पुत्र-प्रेम। अपाकरिष्यति—दूर करेगा।

मल्लि०—अतन्द्रितेति। सा देवी। स्वयमेव अतन्द्रिता असञ्जाततन्द्रा सती, "तारकादित्वात्" इतच् प्रत्ययः। वृक्षकान् स्वल्पवृक्षान् 'अल्पे' इति अल्पार्थे कः प्रत्ययः। (घटस्तनप्रस्रवणैः) घटावेव स्तनौ तयोः प्रस्रवणैः प्रस्नुतपयोभिः। व्यवर्धयत्। गुहः कुमारः। अपि प्रथमाप्तजन्मनां प्रथमलब्धजन्मनाम्, अग्रजातानामित्यर्थः। येषां वृक्षकाणां सम्बन्धि पुत्रवात्सल्यं सुतप्रेम। न अपाकरिष्यति। उत्तरत्र कुमारोदयेऽपि न तेषु पुत्रवात्सल्यं निवर्त्तिष्यत इत्यर्थः॥ १४॥

टि.—अतन्द्रिता—तन्द्रा सञ्जाता अस्या इति तन्द्रिता, तन्द्रा+इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् पा० ५. २. ३६), न तन्द्रिता अतन्द्रिता (अनञ् तत्पु०) 'न थकी हुई' अर्थात् 'फुर्ती से'। वृक्षकान्—लघुतरः वृक्षः वृक्षकः, वृक्ष+कन् (ह्रस्वे पा० ५. ३. ८६), बहु०, पौधे। घटस्तनप्रस्रवणैः—घटौ एव स्तनौ इति घटस्तनौ तयोः (कर्म०) प्रस्रवणैः, घड़े रूपी स्तनों की धाराओं से। प्रस्रवण—प्र+√स्रु+ल्युट् (अन), छाती से दूध का बहना, टपकना। व्यवर्धयत्—वि+√वृध्+णि+लङ्। गुहः—गूहति रक्षति सेनाम् इति, √गुह्+क (इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः पा० ३. १. ३५)। गुह शिव के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय का दूसरा नाम है। देखो,

'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः।' अमर

प्रथमाप्तजन्मनाम्—प्रथमम् आप्तं जन्म यैः ते (बहु०) तेषाम्, 'जिनका जन्म पार्वती के विवाह से पहले हो चुका था,' गुह का अभी जन्म न हुआ था। अतएव वह पौधे, जिनके प्रति वह स्नेह भरी दृष्टि से देखती थी, उसके बड़े पुत्र थे। पुत्रवात्सल्यम्—पुत्रानुरूपं वात्सल्यम्

(मध्यमपदलोपी तत्पु०), पुत्र के प्रति स्नेह; वात्सल्यम्—वत्सलस्य भावः; वत्सल+ष्यञ् । अपाकरिष्यति—अप + आ + √ कृ लिट्, 'दूर कर देगा, हटा देगा।' पार्वती पौधों के पालने के लिए इतनी जुट गई थी कि कवि कहता है कि होनेवाला कुमार कार्त्तिकेय माता पार्वती की उनके प्रति ममता को हटा न सकेगा।

हिन्दी—उसने आलस्य छोड़कर स्वयं पौधों को स्तनरूपी घड़ों की जल-धाराओं से बढ़ाया, पहले जन्म को प्राप्त हुए जिनके प्रति पुत्र-स्नेह को कुमार कार्तिकेय भी दूर न कर सकेगा। [१४]

अरण्य-बीजाञ्जलि-दान लालिता-
स्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्
पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥

अन्वयः—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः हरिणाः च तस्यां तथा विशश्वसुः यथा कुतूहलात् तदीयैः नयनैः लोचने सखीनां पुरः अमिमीत ।

वाच्यपरि०—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितैः हरिणैः....विशश्वसे;.... अमीयेताम् ।

श०—अरण्य—वन । अञ्जलि—मुट्ठी । लालित—पालित । विशश्वसुः—विश्वास करती थी। कुतूहल—उत्सुकता। अमिमीत—नापा।

मल्लि०—अरण्येति। (अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः) अरण्य-बीजानां नीवारादीनाम् अञ्जलयः तेषां दानेन लालिताः । हरिणाश्च तस्यां देव्याम् । तथा विशश्वसुः विस्रम्भं जग्मुः; "समौ विस्रम्भविश्वासौ" इत्यमरः । तथा कुतूहलात् औत्सुक्यात् । तदीयैः हरिणसम्बन्धिभिः । नयनैः नेत्रैः करणैः । स्वकीये लोचने सखीनां पुरः पुरतः । अनेन तेषां सम्बन्धसहत्वमुक्तम् । अमिमीत अक्षिपरिमाणतारतम्यज्ञानाय मानं चकार इत्यर्थः। केचित्तु सा पार्वती तदीयः नेत्रः कुतूहलात् पुरः अग्रे वर्त्तमानानां सखीनां लोचने अमिमीत व्रतस्थत्वान्नात्मन इत्याहुः । 'माङ् माने' इत्यस्माद्धातोर्लङ् । इयमेव खलु विश्वासस्य परा काष्ठा यदक्षिपीडनेऽपि न क्षुभ्यन्तीति भावः ॥ १५ ॥

टि०—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः—अरण्यबीजानाम् अञ्जलयः अरण्यबीजाञ्जलयः (तत्पु०), तेषां दानेन लालिताः, 'नीवार की मुट्ठियों के खिलाने से पाली गई'। अरण्यबीज नीवार को कहते हैं। अञ्जलिः—मुट्ठीभर। देखो,

अञ्जलिस्तु पुमान् हस्तसंपुटे कुडवेऽपि च।' मेदिनी

अञ्जलिपरिमितं दानम् अञ्जलिदानम् इति वा।

विशश्वसुः—वि+√श्वस् लिट्; √श्वस् का अर्थ वि उपसर्ग सहित होता है 'विश्वास करना'। उपसर्ग द्वारा धातु का अर्थ बदल जाता है। देखो,

'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

तपस्वि-कन्याओं का मृग के प्रति प्रेम का वर्णन साहित्य में कई स्थलों पर मिलता है। देखो,

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति

सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥ शाकु० ४. १३.

पार्वती में मृगों का इतना दृढ़ विश्वास था कि वह उनकी आँखों से अपनी आँखें नापा करती थी। 'सखीनाम्' शब्द 'पुरः' के साथ लिया जाना चाहिए, न कि 'लोचने' के साथ, क्योंकि 'लोचने' से उसकी अपनी आँखों का बोध होगा न कि उसकी सखियों की आँखों का। अन्यथा यह रचना इस प्रकार होती 'सखीनां लोचनानि'। कुतूहलात्—उत्सुकतावश, यह है कारण उनकी आँखों से अपनी आँखों के नापने का। अमिमीत—√मा ३ और ४ आ० 'नापना' लङ्।

हिन्दी—नीवार आदि की मुट्ठियों के खिलाने से पाली हुई हरिणियाँ उसमें इतना विश्वास करती थीं कि वह उत्सुकतावश सखियों के सामने उनकी आँखों से अपनी आँखें नापा करती थी। [१५]

कृताभिषेकां हुत-जातवेदसं
त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्
न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥ १६॥

अन्वयः—...कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीम् अधीतिनीं तां दिदृक्षवः ऋषयः अभ्युपागमन्। धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते।

वाच्यपरि०—....ऋषिभिः दिदृक्षुभिः अभ्युपागामि।...समीक्षन्ते (शास्त्रकाराः)।

श० -अभिषेक—स्नान। जातवेदस्—अग्नि। त्वक्—छाल। उत्तरासङ्ग—उत्तरीय। अधीतिनी—वेदपाठ करनेवाली। दिदृक्षवः—देखने की इच्छावाले। अभ्युपागमन्—पास आते थे। धर्मवृद्ध—तप में बढ़े हुए। वयस्—आयु। समीक्ष्यते—देखी जाती है।

मल्लि०—कृतेति। कृताभिषेकां कृतस्नानाम्। हुतजातवेदसं हुताग्निकां कृतहोमाम् इत्यर्थः। (त्वगुत्तरासङ्गवतीम्) त्वचा वल्कलेन उत्तरासङ्गवतीम् उत्तरीयवतीम्। अधीतमस्या अस्तीति ताम् अधीतिनीं स्तुतिपाठादि कुर्वतीम् "इष्टादिभ्यश्च" इति 'इनि' प्रत्ययः। तां देवीम्। दिदृक्षवः द्रष्टुमिच्छवः। ऋषयः मुनयः। अभ्युपागमन् समुपागताः। न चात्र कनिष्ठसेवादोष इत्याह—धर्मवृद्धेषु वयो न समीक्ष्यते न प्रमाणीक्रियते, सति धर्मज्यैष्ठ्येन वयोज्यैष्ठ्यं प्रयोजकमित्यर्थः। तथाच मनुः—

"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥" इति॥१६॥

टि०—कृताभिषेकाम्—कृतः अभिषेकः यया सा कृताभिषेका (बहु०), ताम्, 'जो स्नान कर चुकी थी'। अभिषेक का वही तात्पर्य है जो अभिषव का है। हुतजातवेदसम्—हुतः जातवेदः यया ताम्, 'जो हवन कर चुकी थी'। जातवेदस्—जात+विद्+असुन्, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है:—(१) जातं वेदो (धनं) यस्मात्, (२) जाते जाते विद्यत इति वा, (३) जातं वेत्ति वेदयते वा। त्वगुत्तरासङ्गवतीम्—त्वचा उत्तरासङ्गवती तम्, 'उसको जिसने छाल का बना उत्तरीय पहन रखा है'। उत्तरासङ्ग—उत्तरस्मिन् (शरीरभागे) आसङ्गोऽस्यास्तीति उत्तरासङ्गः; आसङ्ग—आ+√सञ्ज् १ पर० 'बाँधना'+घञ्। समास का विग्रह इस प्रकार भी हो सकता है:—त्वगेव उत्तरासङ्गोऽस्यास्तीति ताम्। त्वगुत्तरासङ्ग+मतुप्। अधीतिनीम्—अधीतम् अस्या अस्तीति अधीतिनी, ताम्; अधीत—

अधि+√इ २ पर० 'पढ़ना'+क्त, अधीत (इष्टादिभ्यश्च पा० ५. २. ८८)+इन+ई (ङीप्) स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए। दिदृत्तवः—दिदृत्तुः—द्रष्टुम् इच्छुः,√दृश् -सन्नन्त+उ (सनाशंसभित्त उः पा० ३. २. १६८)। इसी प्रकार चिकीर्षुः, जिगमिषुः आदि शब्द बने हैं। अभ्युपागमन्—अभि+उप+आ+√गम् लुङ्, 'पास आते थे'। धर्मवृद्धेषु—धर्मेण वृद्धेषु, 'धर्माचरण में बढ़े हुओं में'। समीक्ष्यते—सम्+√ईक्ष् लट् कर्मवाच्य। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मवृद्ध पुरुषों के लिए आयु का विचार नहीं किया जाता। पार्वती यद्यपि आयु में उनसे छोटी थी परन्तु वह महर्षियों द्वारा भी, गुणी होने के कारण, उनके लिए प्रशंसा की पात्र बन गई थी। देखो,

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते। रघु० ११. १.

प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः। भर्तृ० नीति० ३२.

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः। उत्तर० ४. ११.

न तेन वृद्धो भवति, येनाऽस्य पलितं शिरः।

यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ मनु

हिन्दी—जो स्नान करके हवन करती थी और वल्कलों के उत्तरीय वस्त्र पहने स्तुति-पाठ करती थी, उसे ऋषि-महर्षि देखने की इच्छा से आते थे, क्योंकि धर्माचरण में बढ़े-चढ़ों में आयु नहीं देखी जाती। [१६]

विरोधि सत्त्वोज्झित-पूर्व मत्सरं

द्रुमैरभीष्ट-प्रसवार्चितातिथि।

नवोटजाभ्यन्तर सम्भृतानलं

तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैः अभीष्टप्रसवार्चितातिथि नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तत् च तपोवनं पावनं बभूव।

वाच्यपरि०—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरेण द्रुमैः अभीष्टप्रसवार्चितातिथिना नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतालेन तेन च तपोवनेन पावनेन बभूवे।

श०—विरोधिन्—वैरी। सत्त्व—जन्तु। उज्झित—त्यक्त। मत्सर—शत्रुता, हिंसा। अभीष्ट—अभिलषित। प्रसव—फल।

अर्चित—पूजित। उटज—कुटिया। अभ्यन्तर—भीतर। सम्भृत—सञ्चित, एकत्रित। पावन—पवित्र।

मल्लि०—विरोधीति (विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं) विरोधिभिः सत्त्वैः गोव्याघ्रादिभिः उज्झितपूर्वमत्सरं त्यक्तपूर्ववैरं हिंसारहितमित्यर्थः। द्रुमैः। (अभीष्टप्रसवार्चितातिथि) अभीष्टप्रसवेन इष्टफलेन अर्चिताः पूजिताः अतिथयोः यस्मिन् तत् तथोक्तम्। (नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं) नवानामुटजानां पर्णशालानाम् अभ्यन्तरेषु सम्भृताः सञ्चिताः अनलाः अग्नयो यस्मिन् तत्तथोक्तम्। तत् च तपोवनं पावयतीति। पावनं बभूव, अहिंसातिथिसत्काराग्निपरिचर्याभिर्जगत्पावनं बभूवेत्यर्थः॥ १७॥

टि०—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरम्—विरोधिभिः सत्त्वैः (तत्पु०) उज्झितः पूर्वः मत्सरः यस्मिन् (बहु०) तत्, 'जहाँ परस्पर विरोधी जन्तुओं द्वारा स्वाभाविक शत्रुता त्याग दी गई थी'। विरोधिन्—विरोधोस्यातीति विरोधिन्। उज्झित—√ उज्झ् ६ पर + क्त, त्यक्त। पूर्वमत्सरम्—पूर्वश्चासौ मत्सरः पूर्वमत्सरः (कर्म०) तत्, 'स्वाभाविक शत्रुता'। पूर्व से तात्पर्य यहाँ 'सहज, स्वाभाविक' से है, कृत्रिम के विरोध में। देखो, नकुल और सर्प की स्वाभाविक शत्रुता। मत्सर—जो पर-दुःख में प्रसन्न हो (माद्यति परकृच्छ्रे); 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' अमर। √मद् ४ पर० 'प्रसन्न होना' + सर (कृभूमादिभ्यः किन्) यहाँ यह वैर भाव में प्रयुक्त किया गया है। भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए देखो,

> मत्सरो मक्षिकायां स्यान्मात्सर्यक्रोधयोः पुमान्।
> असह्यपरसंपत्तौ कृपणे चाभिधेयवत्॥ मेदिनी

अभीष्टप्रसवार्चितातिथि—अभीष्टैः प्रसवैः अर्चिता अतिथयः यस्मिन् (बहु०) तत्, 'जिसमें अभिलषित फलों द्वारा अतिथियों का सत्कार किया जाता था'। 'प्रसव' का अर्थ टीकाकारों ने फल किया है, परन्तु उसे फूल के अर्थ में लेना ठीक होगा। क्योंकि फूलों द्वारा वृक्ष अतिथि-सत्कार करते वर्णन किये गये हैं। देखो,

> मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टिं किरन्तः।
> कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि॥ नागानन्द १.११.

फलों के बोझ के कारण झुक जाने से भी वृक्षों द्वारा अतिथि-सत्कार का वर्णन मिलता है:—

नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः । नागानन्द

प्रसव के विविध अर्थों के लिए देखो,

प्रसवो गर्भमोचने ।

उत्पादे स्यादपत्येऽपि फलेऽपि कुसुमेऽपि च ॥ मेदिनी

नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलम्—नवानाम् उटजानाम् अभ्यन्तरेषु सम्भृता अनला यस्मिन् तत् (बहु०); उटज—उटेभ्यः पर्णेभ्यः जायते इति; उट+√जन+ड (पञ्चम्यां जनेर्डः पा० ३. २. ६८); उट 'पत्र, घास' (देखो 'उटस्तृणपर्णादिः' देशीकोष) ; सम्भृत—सम् + √भृ+क्त ; 'जहाँ कि प्रत्येक नई कुटिया में होमाग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी।' पावनम्—पावयतीति; √पू+णि+ल्युट् (अन), पवित्र । पार्वती के योग-तपस्या के कार्यों द्वारा तपोवन में ऐसा परिवर्तन हो गया कि परस्पर विरोधी स्वभाववाले जन्तुओं ने अपनी सहज शत्रुता छोड़ दी, वृक्षों में अतिथि-सत्कार की भावना उत्पन्न हो गई, और अनेक कुटियाँ बन गईं, जिनमें यज्ञ की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी ।

हिन्दी—वह तपोवन पवित्र हो गया, जिसमें परस्पर विरोधी प्राणियों ने अपनी पहली शत्रुता छोड़ दी थी, वृक्ष अभीष्ट फल-फूल देकर अतिथियों का सत्कार करते थे, और हर एक नई कुटिया में होमाग्नि प्रज्वलित रहती थी । [१७]

यदा फलं पूर्व-तपःसमाधिना
न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदाऽनपेक्ष्य स्व-शरीर-मार्दवं
तप महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

अन्वयः—सा यदा तावता पूर्वतपःसमाधिना काङ्क्षितं फलं लभ्यं न अमंस्त, तदा स्वशरीरमार्दवम् अनपेक्ष्य महत् तपः चरितुं प्रचक्रमे ।

वाच्यपरि०—तया....अमानि,....प्रचक्रमे ।

श०—काङ्क्षित—वाञ्छित । लभ्य—प्रापणीय । अमंस्त—

समझा । मार्दव—सुकुमारता । अनपेक्ष्य—उपेक्षा करके । चरितुम्—सिद्ध करने के लिए । प्रचक्रमे—आरम्भ कर दिया ।

मल्लि०—यदेति । सा देवी । यदा यस्मिन् काले । तावता तावत्प्रमाणेन । (पूर्वतपःसमाधिना) पूर्वेण अनुष्ठीयमानप्रकारेण तपोनियमेन । काङ्क्षितं फलं लभ्यं लब्धुं शक्यम् । न अमंस्त अशक्यम् अमंस्तेत्यर्थः । तदा तत्काले, अविलम्बेन इत्यर्थः । स्वशरीरस्य मार्दवं मृदुत्वं सौकुमार्यम् । अनपेक्ष्य अविगणय्य । महत् दुश्चरम् । तपः चरितुं साधयितुम् , प्रचक्रमे उपचक्रमे ॥ १८ ॥

टि०—तावता—तत् परिमाणमस्येति तावत् तेन, प्राचीन वैयाकरणों ने तत् के आगे डावतु प्रत्यय जोड़कर तावत् शब्द की सिद्धि की है (तद्धितः पा० ४. १. ७६), परन्तु कैयट के मतानुसार तावत् शब्द इस प्रकार अच्छा सिद्ध किया जा सकता है:—तत्+वतुप् और आ दीर्घ कर दिया जाय (आ सर्वनाम्नः पा० ६. ३. ९१) । इसके अर्थ के लिए देखो, यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे । पूर्वतपःसमाधिना—तपः एव समाधिः अथवा तपसा समाधिः तपःसमाधिः (तत्पु०), पूर्वश्चासौ तपःसमाधिः इति पूर्वतपःसमाधिः (कर्म०) तेन । काङ्क्षित—काङ्क्ष्+क्त, अभीष्ट । लभ्य- √लभ् + यत्, प्रापणीय । अमंस्त—√मन् लुङ् । स्वशरीरमार्दवम्—स्वस्याः शरीरस्य मार्दवम् । 'शरीर की सुकुमारता'; मार्दव—मृदोः भावः- मृदु+अण् । अनपेक्ष्य—न अपेक्ष्य, 'परवाह न करके' । अपेक्ष्य—अप+√ईक्ष् + ल्यप् । प्रचक्रमे—प्र+√क्रम् 'आरम्भ करना, + लिट् । जब पार्वती को अपनी तपस्या 'निष्फल होती जान पड़ी' तब उसने और कठोर तपस्या करनी ठान ली ।

हिन्दी—जब उसने प्रथमानुष्ठित तप और नियम से अभीष्ट फल को प्राप्त करना असम्भव समझा तब उसने अपने शरीर की कोमलता की उपेक्षा करके कठोर तप साधना आरम्भ कर दिया । [१८]

क्लमं ययौ कन्दुक-लीलयाऽपि या
तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।

ध्रुवं वपुः काञ्चन-पद्म-निर्मितं
मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १६ ॥

अन्वयः—या कन्दुकलीलया अपि क्लमं ययौ, तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत । ध्रुवं काञ्चनपद्मनिर्मितं वपुः (अत एव) प्रकृत्या मृदु च ससारम् एव च (अभूत्) ।

वाच्यपरि०—यया ....क्लमो यये सा ....व्यगाहत । ....वपुषा काञ्चनपद्मनिर्मितेन मृदुना च ससारेण च एव (अभावि) ।

श०—कन्दुकलीला—गेंद खेलना । क्लम—थकान । चरित—चरित्र । व्यगाह्यत—प्रवेश किया गया । पद्म—कमल । निर्मित—रचित । प्रकृति स्वभाव । ससार—कठिन । मृदु—सुकुमार, कोमल ।

मल्लि०—क्लममिति । या देवी कन्दुकलीलया कन्दुकक्रीडया अपि क्लमं ययौ ग्लानिं प्राप । तया देव्या । मुनीनां चरितं तीव्रं तपः । व्यगाह्यत प्रविष्टम् । अत्र उत्प्रेक्षते—ध्रुवम् अस्याः वपुः (काञ्चनपद्म-निर्मितं) काञ्चनपद्मेन सुवर्णकमलेन निर्मितं घटितम् । अत एव प्रकृत्या पद्मस्वभावेन । मृदु च सुकुमारमपि, काञ्चनस्वभावेन ससारं च कठिनम् एव । तथा च तदुपादानकत्वाद् देव्या वपुषः सुकुमारस्यापि तीव्रतपः-क्षमत्वमित्युत्प्रेक्षार्थः ॥ १६ ॥

टि०—कन्दुकलीलया—कन्दुकस्य कन्दुकेन वा लीला तया, 'गेंद के खेलने से' । पहली पंक्ति द्वारा पार्वती के शरीर की अतीव कोमलता का बोध होता है । देखो, "महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः" (कुमार० ५. १२) कवि ने यहाँ पार्वती के शरीर की सुकुमारता तथा उसके प्रतिकूल कठोर तपस्या का वर्णन किया है । इन दोनों परस्पर विरोधी भावों पर जो विस्मय उत्पन्न होता है, कवि ने उसे इस प्रकार समझाया है:—स्वर्ण-कमल में जैसे कठोरता तथा सुकुमारता दोनों पाई जाती हैं, वैसे ही उसके शरीर में सुकुमारता तथा कठोरता दोनों विद्यमान थीं । व्यगाह्यत—वि+√गाह् १ आ० लोट् कर्म वाच्य । काञ्चनपद्मनिर्मितम्—काञ्चनस्य पद्मेन निर्मितम्, स्वर्ण कमल द्वारा रचित । ससारम्—सारेण सह वर्तत इति, 'समर्थ, कठिन, ठोस' ।

हिन्दी—जो गेंद खेलती हुई भी परिश्रम को प्राप्त होती थी, वह

(पार्वत अब) मुनियों की कठोर तपस्या करने में प्रवृत्त हुई। अवश्य उसका शरीर सुवर्ण-कमल से बना था और (इसलिए) वह स्वभाव से कोमल तथा समर्थ (सारवान्) था। [१६]

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां
शुचि-स्मिता मध्य-गता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्र-प्रतिघातिनीं प्रभा—
मनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥

अन्वयः—शुचौ शुचि-स्मिता सुमध्यमा (सा पार्वती) ज्वलतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्य-गता (सती) नेत्र-प्रतिघातिनीं प्रभां विजित्य अनन्यदृष्टिः (सती) सवितारम् ऐक्षत।

वाच्यपरि०—"''शुचिस्मितया सुमध्यमया अनन्यदृष्ट्या सविता ऐक्ष्यत।

श०—शुचि—ग्रीष्म। ज्वलत्—जलती हुई। हविर्भुज्—आग। शुचि—विशद। स्मित—मुस्कराहट। मध्यगत—मध्य स्थित। नेत्रप्रतिघातिनी—आँखों को चकाचौंध करनेवाली। प्रभा—सूर्य का तेज। अनन्यदृष्टिः—टिकटिकी बाँधकर। सवितारम्—सूर्य को। ऐक्षत—देखती थी।

मल्लि०—शुचाविति। शुचौ ग्रीष्मे। शुचिस्मिता विशदमन्दहासा। सुमध्यमा पार्वती। ज्वलतां दीप्तिमताम्। चतुर्णां हविर्भुजाम् अग्नीनाम्। मध्यगता सती। नेत्रे प्रतिहन्तीति तां नेत्रप्रतिघातिनीम् प्रभां सावित्रं तेजः। विजित्य। न विद्यते अन्यत्र दृष्टिर्यस्याः सा अनन्यदृष्टिः सती सवितारं सूर्यम्। ऐक्षत ददर्श। "ग्रीष्मे पञ्चाग्नि-मध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः" इति स्मरणात्। पञ्चाग्निमध्ये तपश्चचारेत्यर्थः। सवितैव पञ्चमोऽग्निः, "अग्निः सविता सवितैवाग्निः" इति श्रौतलिङ्गात् ॥ २० ॥

टि०—शुचौ—ग्रीष्म ऋतु में, 'शुचि' का सप्तमी एक०; √शुच्+इन् (इगुपधात् कित् उ० ४. १२०)। इसके कई अर्थ हैं :—

शुचिर्ग्रीष्माग्निशृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि।
ज्येष्ठे च पुंसि धवले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु ॥ मेदिनी

यहाँ पद्य में नपुं० में शुचि का प्रयोग ग्रीष्म के अर्थ में हुआ है और जब यह स्मित का विशेषण बना है तब इसका अर्थ 'विशद' होगा। हविर्भुजाम्—हविः भुञ्जत इति हविर्भुजः तेषाम्, 'आहुतियों को खाने वाली अग्नियों के'। चतुर्णाम्—इससे चारों दिशाओं में स्थापित अग्नि का संकेत किया गया है। ऊपर सिर पर सूर्य पाँचवीं अग्नि का काम देता है, इसे 'पञ्चाग्निसाधन' कहते हैं। शुचिस्मिता—शुचि स्मितं यस्याः (बहु०) सा, 'जिसकी मुस्कराहट विशद हो'। स्मित का अर्थ है, 'ईषद् हसित'। हंसी के भिन्न-भिन्न प्रकारों के लिए देखो,

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथाऽतिहसितञ्च षड्भेदाः॥
ईषद्विकासि नयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्॥ साहित्यदर्पण

सुमध्यमा—शोभनः मध्यमः यस्याः सा (बहु०), 'सुन्दर कमर वाली'। नेत्रप्रतिघातिनीम्—नेत्रयोः प्रतिघातिनी, 'आँखों को चकाचौंध कर देनेवाली (प्रभा), ताम्। प्रतिघातिनी—प्रतिहन्तुं शीलम् अस्या इति सा, प्रति+√हन्+णिनि+ङीप्। विजित्य—वि+√जि 'जीतना'+ल्यप्, ल्यप् से पहले तुक् जुड़ जाता है। (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् पा० ६. १. ७१)। अनन्यदृष्टिः—न अन्यस्मिन् दृष्टिः यस्या सा (बहु०)।

हिन्दी—ग्रीष्म ऋतु में जलती हुई चारों ओर होमाग्नि के मध्य बैठी विशद मुस्कराहट वाली कृशोदरी (पार्वती) आँखों को चकाचौंध करनेवाले (सूर्य के) तेज को जीतकर टिकटिकी बाँधे सूर्य को देखती थी। [२०]

तथाभितप्तं सवितुर्गभस्तिभि-
मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः
शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम्॥ २१॥

अन्वयः—सवितुः गभस्तिभिः तथा अभितप्तं तदीयं मुखं कमलश्रियं दधौ, अस्य (मुखस्य) दीर्घयोः अपाङ्गयोः केवलं श्यामिकया शनैः शनैः पदं कृतम् ।

वाच्यपरि०—....अभितप्तेन तदीयेन मुखेन कमलश्रीः दधे,.... श्यामिका कृतवती ।

श०—गभस्ति—किरण । अभितप्त—सन्तप्त । अपाङ्ग—कोआ । श्यामिका—कालिमा ।

मल्लि०—तथेति । सवितुः सूर्यस्य । गभस्तिभिः किरणैः । तथा पूर्वोक्तप्रकारेण । अभितप्तं सन्तप्तम् । तस्या इदं तदीयम् । मुखं कमलश्रियं कमलस्य शोभाम् दधौ प्राप । यथा रवितापात् कमलं न म्लायति प्रत्युत विकसति तथा तदीयं मुखमासीदिति भावः । किन्तु अस्य मुखस्य । दीर्घयोः अपाङ्गयोः केवलं नेत्रान्तयोरेव । शनैः शनैः मन्दं मन्दम् । श्यामिकया कालिम्ना । पदं स्थानम् कृतम् । तयोः सौकुमार्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

टि०—सवितुः गभस्तिभिः अभितप्तम्—सूर्य की किरणों से लाल हो रहे को; अभितप्त—अभि+√तप्+क्त; उसका मुख, जो कि सूर्य की किरणों से लाल हो रहा था, कमल सदृश सुन्दर प्रतीत हो रहा था, विशेषतया रक्त कमल से यहाँ तात्पर्य है । यद्यपि कवि ने यहाँ किसी कमल विशेष का उल्लेख नहीं किया है, तथापि लाल हो रहे मुख के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि कवि का अभिप्राय रक्त कमल से है । हर्ष ने नागानन्द में मलयवती के लाल मुख और कमल में सदृशता दिखाई है :—

एतन्मुखं प्रियायाः शशिनं क्षिप्त्वा कपोलयोः कान्त्या ।
तापानुरक्तमधुना कमलं भृशमीहते जेतुम् ॥ ३. १०.

अंगरेजी के कवियों ने प्रायः स्त्री के लाल मुख की तुलना लाल गुलाब से की है । अस्य—इसका सम्बन्ध 'मुख' से है । दीर्घयोः अपाङ्गयोः—'लम्बे कोयों से', 'दीर्घयोः' विशेषण से सुन्दरता का बोध होता है, लम्बे कोये सुन्दरता के सूचक हैं । श्यामिकया—कालिमा द्वारा ।

'केवलम्' द्वारा कालिमा के घेरे को कोयों तक सीमित किया गया है।

हिन्दी—सूर्य की किरणों से उस प्रकार अति सन्तप्त उसके मुख ने कमल की शोभा को धारण किया, (परन्तु) उसके विस्तृत (नेत्रों के) कोयों पर धीरे-धीरे कालिमा ने स्थान बना लिया। [२१]

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं
रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूव तस्याः किल पारणाविधि—
र्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः॥ २२॥

अन्वयः—अयाचितोपस्थितं केवलम् अम्बु रसात्मकस्य उडुपतेः रश्मयः च तस्याः पारणाविधिः बभूव किल, वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः न (बभूव)।

वाच्यपरि०—अयाचितोपस्थितेन केवलेन अम्बुना.......रश्मिभिः ....पारणाविधिः न बभूवे, वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनेन न (बभूवे)।

श०—अयाचित—बिना माँगे। उपस्थित—प्राप्त। अम्बु—जल। रसात्मक—अमृतरस-मय। उडुपति—चन्द्रमा, तारागण का स्वामी। रश्मि—किरण। पारणा—व्रत-समाप्ति पर भोजन। वृत्ति—जीवनोपाय। व्यतिरिक्त - पृथक्। साधन—उपात।

मल्लि०—अयाचितेति। अयाचितोपस्थितम् अप्रार्थितोपनतम्। केवलम् अम्बु उदकम्। रसात्मकस्य अमृतमयस्य। (उडुपतेः) उडूनां नक्षत्राणां पतिः चन्द्रः, तस्य। रश्मयः च तस्याः पार्वत्याः। पारणाविधिः अभ्यवहारकर्म बभूव, तावन्मात्रसाधनकोऽभूत् इत्यर्थः। साध्यसाधनयोः अभेदेन व्यपदेशः साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थः। किल इति प्रसिद्धौ। (वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः) वृक्षाणां या वृत्तिः जीवनोपायः, तद्व्यतिरिक्तं साधनम् उपायो यस्य स तथोक्तः पारणाविधिः न बभूव। वृक्षोऽपि अयाचितोपस्थितेन मेघोदकेन इन्दुकिरणैश्च जीवतीति प्रसिद्धम्, अम्बिकाऽपि तावन्मात्रम् अवालम्बतेत्यर्थः॥ २२॥

टि०—अयाचितोपस्थितम्—न याचितम् अयाचितम् (नञ् तत्पु०), अयाचितं च तदुपस्थितं चेति तत् (कर्म०), जो उसे बिना

माँगे प्राप्त हुआ था। इसका सम्बन्ध अम्बु (नपुं०) से है। **रसात्मकस्य**—रसः आत्मा यस्य सः (बहु०), 'अमृतमय अथवा जलमय,' तस्य। कप् प्रत्यय विकल्प रूप में रसात्मन् को जोड़ा गया है अर्थात् जो बहुव्रीहि समास का उत्तर भाग है। (शेषाद्विभाषा पा० ४. ४. १५४) । **उडुपतेः**—उडूनां पतिः उडुपतिः, 'ताराओं का स्वामी', तस्य, अर्थात् चन्द्रमा। देखो, ताराधिप। चन्द्रमा को रसात्मक कहा है क्योंकि यह जल अथवा अमृत से युक्त है। वराहमिहिर ने बताया है कि चन्द्रमा जल से बना है:—

सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः॥

अमृत से युक्त होने के कारण चन्द्रमा को सुधाकर कहा जाता है। **वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः**—वृक्षाणां वृत्तेः व्यतिरिक्तं साधनं यस्य सः (बहु०), वृक्ष केवल ओस की बूँदों तथा चन्द्र-किरणों पर निर्वाह करते हैं। पार्वती का भोजन भी वृक्षों के भोजन से भिन्न नहीं था।

हिन्दी—बिना प्रार्थना किये प्राप्त हुआ केवल (वर्षा का) जल और अमृत-रसमय चन्द्रमा की किरणों से उसकी पारणा होती थी, वृक्षों की जीविका से उसका जीवनोपाय भिन्न न था। [२२]

निकाम-तप्ता विविधेन वह्निना
नभश्चरेणेन्धन-सम्भृतेन सा।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवै-
*र्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥**

अन्वयः—विविधेन नभश्चरेण इन्धनसम्भृतेन वह्निना निकामतप्ता सा तपात्यये नवैः वारिभिः उक्षिता भुवा सह ऊर्ध्वगम् ऊष्माणम् अमुञ्चत्।

वाच्यपरि०—....निकामतप्तया तया....उक्षितया....ऊर्ध्वगः ऊष्मा अमुच्यत।

श०—नभश्चर—सूर्य, अर्थात् आकाश में विचरने वाला। विविध—अनेक प्रकार। इन्धन—जलाने की लकड़ी। सम्भृत—समिद्ध, जलाई-हुई। वन्हि—आग। निकाम—अत्यन्त। तप—ग्रीष्म। अत्यय—अन्त। उक्षित—सिक्त। ऊष्मन्—वाष्प। ऊर्ध्वग—ऊपर उठ रही।

मल्लि०—निकामेति। विविधेन पञ्चविधेन इत्यर्थः। नभश्चरेण खेचरेण आदित्यरूपेण इत्यर्थः। इन्धनसम्भृतेन काष्ठसमिद्धेन वह्निना। (निकामतप्ता) निकामम् अत्यन्तं तप्ता। सा अम्बिका। तपात्यये ग्रीष्मान्ते प्रावृषीत्यर्थः। नवैर्वारिभिः उक्षिता सिक्ता सती। भुवा पञ्चाग्नितप्तया। सह ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वप्रसृतम्। ऊष्माणं वाष्पम्। अमुञ्चत् "ग्रीष्मोष्मवाष्प ऊष्माणः" इति यादवः॥ २३॥

टि०—विविधेन—अनेक प्रकार की अर्थात् पाँच प्रकार की। इसका सम्बन्ध 'पञ्चाग्निसाधन' से है, जैसा कि पद्य २० में वर्णन किया गया है। पाँच प्रकार की अग्नि के दो भाग हैं:—नभश्चर और इन्धनसम्भृत। नभश्चरेण—नभसि चरतीति नभश्चरः (उपपद०) तेन, 'सूर्य द्वारा, जो कि आकाश में विचरता है'। इन्धनसम्भृतेन—इन्धनेन सम्भृत इति इन्धनसम्भृतः (तृतीयातत्पु०) तेन, 'इन्धन से जलाई गई'; इसका सम्बन्ध उन चार अग्नियों से है जो पार्वती के चारों ओर जलाई गई थीं, जब वह तप कर रही थी। तपात्यये—तपस्य अत्यये (षष्ठीतत्पु०), 'ग्रीष्म के अन्त पर'। देखो, 'निदाघ उष्णोपगम उष्ण उष्मागमस्तपः।' अमर। उक्षिता—√उक्ष्+क्त, सिक्त। भुवा सह–पृथ्वी के साथ; सह आदि के साथ तृतीया विभक्ति लगती है। (सहयुक्तेऽप्रधाने पा० २. ३. १९)। ऊर्ध्वगम्—ऊर्ध्वं गच्छतीति (उपपद०) 'जो ऊपर जाती है', तम्। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी की भाँति पार्वती की देह सूर्य से इतनी गरम हो गई थी कि उससे भाप निकलने लगी थी जो ऊपर को उठ रही थी। पृथ्वी भी जब सूर्य द्वारा गरम और बादलों से गीली हो जाती है तब यह भाप छोड़ने लगती है। इसी प्रकार पार्वती की देह पाँच अग्नियों द्वारा गरम और पसीने से गीली हो जाने पर भाप छोड़ने लगी थी और वह भाप (निःश्वास) ऊपर को उठ रही थी।

हिन्दी—अनेक प्रकार की, सूर्य से तथा इन्धन द्वारा जलाई हुई, अग्नियों से अत्यन्त सन्तप्त हुई वह (पार्वती) ग्रीष्म-काल के अन्त में (अर्थात् वर्षा ऋतु में) नवीन वर्षा के जल से भीगी हुई भूमि के साथ ऊपर उठ रही भाप (निःश्वास) को छोड़ने लगी। [२३]

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ २४ ॥

अन्वयः—प्रथमोदबिन्दवः तस्याः पक्ष्मसु क्षणं स्थिताः (ततः) ताडिताधराः (ततः) पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः (ततः) वलीषु स्खलिताः (एवं) चिरेण नाभिं प्रपेदिरे ।

वाच्यपरि०—प्रथमोदविन्दुभिः....स्थितैः ताडिताधरैः पयोधरोत्सेध-निपातचूर्णितैः....स्खलितैः नाभिः प्रपेदे ।

श०—उदविन्दु—जल-बिन्दु । पक्ष्म—पलक । उत्सेध—अत्युच्च, उपरिभाग । वली—उदर-रेखा । स्खलिताः—लुढ़कीं, गिरीं । नाभि—तुन्दि ।

मल्लि०—स्थिता इति । (प्रथमोदबिन्दवः) उदकस्य बिन्दवः उदबिदवः, "मन्थौदन" इत्यादिना उदकशब्दस्य उदादेशः । प्रथमे उदबिन्दवः, प्रथमविशेषणाद् बिन्दूनां विरलत्वं बहुवचनात् न अतिविरल-त्वञ्च गम्यते । तथा च चिरत्वनाभ्यन्तरगमनयोर्निर्वाहः । तस्याः पार्वत्याः । पक्ष्मसु नेत्रलोमसु । क्षणं स्थिताः स्थितिं गताः, स्थिता इत्यनेन पक्ष्मणां सान्द्रत्वं क्षणमिति स्नैग्ध्यञ्च गम्यते । अनन्तरं (ताडिताधराः) ताडितः व्यथितः अधरः ओष्ठः यैः ते तथोक्ताः, एतेन अधरस्य मार्दवं गम्यते । ततः (पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः) पयोधरयोः स्तनयोः उत्सेधे उपरिभागे निपातेन पतनेन चूर्णिताः जर्जरिताः कुचकाठिन्या-दिति भावः । तदनु वलीषु उदररेखासु स्खलिताः, निम्नोन्नतत्वादिति भावः । इत्थं चिरेण न तु शीघ्रम्, प्रतिबन्धबाहुल्यादिति भावः । नाभिं प्रपेदिरे प्रविष्टाः, न तु निर्जग्मुः । एतेन नाभेर्गाम्भीर्यं गम्यते । अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात् परिकरालङ्कारः ॥ २४ ॥

टि०—उदबिन्दवः—उदकस्य बिन्दवः (षष्ठीतत्पु०), जल-बिन्दु । 'उदक' शब्द के बाद यदि बिन्दु आदि शब्द आयें तो उदक उद में बदल जाता है । (मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च पा० ६. ३. ६) । पक्ष्मसु—पलकों पर । जल की बूँदों का पार्वती के पलकों पर क्षण भर

रुकने से बोध होता है कि उसकी पलकें कितनी घनी और कोमल थीं। ताडिताधराः—ताडितः अधरः यैः ते (बहु०), जिन्होंने निचले होंठ को पीड़ित किया। 'ताडित' शब्द द्वारा पार्वती के निचले होंठ की कोमलता का बोध होता है, इसी कारण तो वह जल-बिन्दु से भी पीड़ित हुआ। पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः—पयोधरयोः उत्सेधे निपातेन चूर्णिताः, ऊपर उठी छातियों पर गिरने से (वह जल-बिन्दु) छिटक गये। इससे उसकी छाती की कठोरता विदित होती है। बलीषु स्खलिताः—उदर-रेखाओं में लुढ़क जाती थीं। नाभिं प्रपेदिरे—नाभि को पहुँचती थीं। प्र + √ पद् का अर्थ होता है 'ठहरना', जल की बूँदें नाभि-स्थल पर पहुँचती थीं, और उसमें समा जाती थीं। इससे उसकी नाभि की गम्भीरता विदित होती है। नाभि की गम्भीरता स्त्रियों का आभूषण है। विश्वनाथ ने इस पद्य को पर्याय के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत् तदा पर्याय इष्यते॥

अर्थात् "जब एक ही वस्तु है या अनुक्रम में कई स्थानों पर बनाई जाती है अथवा जब कई वस्तुएँ हैं या अनुक्रम में एक ही स्थान पर बनाई जाती हैं, तब यह पर्यायालङ्कार कहलाता है।"

यहाँ पर एक वस्तु, अर्थात् वर्षा की बूँदें क्रमानुसार पार्वती के पलक, निचला होंठ, छाती, उदर-रेखा तथा नाभि पर गिरती दिखाई गई हैं। वर्षा की बूँदें क्रमशः पार्वती के पलक आदि पर स्थित दिखाई देती हैं, और यह सब पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं न कि एक वर्ग व समुदाय।

हिन्दी—वर्षा की पहली बूँदें उसके पलकों पर क्षण भर ठहर कर वहाँ से निचले होंठ पर गिरीं, (तदनन्तर) स्तन के ऊपरि भाग पर गिरने से जर्जर होकर पेट की रेखाओं से लुढ़कती हुई बहुत देर में नाभि तक पहुँचीं। [२४]

शिलाशयां तामनिकेत-वासिनीं
निरन्तरास्वन्तर - वातवृष्टिषु।

व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै-
 र्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ २५ ॥ *

अन्वयः—निरन्तरासु अन्तरवातवृष्टिषु अनिकेतवासिनीं शिलाशयां तां महातपःसाक्ष्ये स्थिता इव क्षपाः तडिन्मयैः उन्मिषितैः व्यलोकयन् ।

वाच्यपरि०—....स्थिताभिः क्षपाभिः अनिकेतवासिनी शिलाशया.... सा व्यलोक्यत ।

श०—निरन्तर—लगातार । वृष्टि—वर्षा । अन्तर—बीच । वात—वायु । निकेत—घर । अनिकेतवासिनी—खुले में (बिना घर के) रहनेवाली । शिलाशया—चट्टान पर जो सोती थी । साक्ष्य—गवाही । क्षपा—रात्रि । उन्मिषित—दृष्टि । तडिन्मय—विद्युन्मय ।

मल्लि०—शिलेति । निरन्तरासु नीरन्ध्रासु । अन्तरे मध्ये वातो यासां तादृश्यो या वृष्टयस्तासु अन्तरवातवृष्टिषु । न निकेते गृहे वसतीति ताम्, अनिकेतवासिनीम् अनावृतदेशवासिनीमित्यर्थः । शिलायां शेते इति शिलाशयां शिलातलशायिनीम्, "अधिकरणे शेतेः" इति अच्प्रत्ययः । तां पार्वतीं (महातपःसाक्ष्ये) साक्षाद् द्रष्टा साक्षी, "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति इनि प्रत्ययः; तस्य कर्म साक्ष्यम् महातपसः साक्ष्ये स्थिताः क्षपाः तडिन्मयैः विद्युद्रूपैः । उन्मिषितैः अवलोकनैः । व्यलोकयन् इव । इवेति चक्षुषा विलोकनमेव उत्प्रेक्ष्यते । साक्ष्यं तु—इति प्रमाणसिद्धत्वान्नोत्प्रेक्ष्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ २५ ॥

"आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥"

टि०—निरन्तरासु—निर्गतम् अन्तरं याभ्यः ताः निरन्तराः (बहु०), तासु, 'लगातार' । अन्तरवातवृष्टिषु—अन्तरे वातो यासां ताः अन्तरवाताः (बहु०), अन्तरवाताश्च ता वृष्टयः इति अन्तरवातवृष्टयः (कर्म०), तासु, तेज हवा के साथ-साथ वर्षा । अनिकेतवासिनीम्—न निकेते वसतीति अनिकेतवासिनी, ताम्, खुले में (बिना घर के) रहने वाली; वासिनी—√वस् 'रहना'+णिनि (इन्)+ ङीप् । शिलाशयाम्—शिलायां शेत इति शिलाशय (सप्तमीतत्पु०), ताम् :शिला +√शी २ आ०+अच्

(अधिकरणे शेतेः पा० ५. २. १५), शिला पर सोने वाली को।
महातपःसाद्ये—साक्षिणः कर्म साक्ष्यं (साक्षिन्+ष्यञ्), महच्चेदं तपः महत्तपः, तस्य साक्ष्यं तस्मिन्, महान् तपस्या की साक्षी रूप। तडिन्मयैः—तडित् + मयट् (तत्प्रकृतवचने मयट् पा० ५. ४. २१), विद्युत् रूप। उन्मिषितैः—उत्+√मिष् 'पीना'+क्त, खुले नेत्रों द्वारा।

पहली दो पंक्तियाँ पार्वती की कठोर तथा तीव्र तपस्या को सूचित करती हैं और पिछली दो पंक्तियाँ रातों को साकार बताती है जिससे वे बिजली रूपी अपनी आँखों से उसे देखती थी।

हिन्दी—लगातार और बीच-बीच में तेज हवा के साथ-साथ वर्षा में जो खुले हुए स्थान पर रहती और शिला पर सोती थी, उसके महातप की साक्षिभूत रात्रियाँ मानो विद्युत् रूपी दृष्टियों से उसे देखती थीं। [२५]

निनाय साऽत्यन्त-हिमोत्किरानिलाः
सहस्य - रात्रीरुदवास - तत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः
पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा पुरः परस्पराक्रन्दिनि वियुक्ते चक्रवाकयोः मिथुने कृपावती (सती) अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीः उदवासतत्परा निनाय।

वाच्यपरि०—तया .... उदवासतत्परया .... कृपावत्या (सत्या) सहस्यरात्रयः निन्यिरे।

श०—हिम—बर्फ। उत्किर—बिखेरना। अनिल—वायु। सहस्य—पौष। उदवास—जल में खड़े रहना। आक्रन्दिन्—चिल्ला रहे। चक्रवाक—चकवा। मिथुन—जोड़ा। कृपावती—दयावती।

मल्लि०—एवं वर्षासु विहितं तपःप्रकारमुक्त्वा सम्प्रति हेमन्ते तपश्चरणप्रकारमाह—निनायेति। सा पार्वती (अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः) उत्किरन्ति क्षिपन्तीत्युत्किराः, "इगुपधज्ञा" इत्यादिना कः। अत्यन्तं हिमानाम् उत्किराः अनिलाः यासु ताः सहस्यरात्रीः पौषरात्रीः, "पौषे तैषसहस्यौ द्वौ" इत्यमरः। (उदवासतत्परा) उदके वासः उदवासः।

"पेषंवासवाहनाधिषु च" इत्युदादेशः; उदवासे तत्परा आसक्ताः तथा। (परस्पराक्रन्दिनि) परस्परमाक्रन्दिनि अन्योन्यमाक्रोशिनी। पुरः अग्रे ना वियुक्ते विरहिणि, वियोगं प्राप्त इति यावत्, चक्रवाकी च चक्रवाकश्च चक्रवाकौ तयोः चक्रवाकयोः। मिथुने द्वन्द्वे। कृपावती सती निनाय। दुःखिषु कृपालुत्वं महतां स्वभाव इति चक्रवाकमिथुने कृपा, न तु कामितया इति वाच्यानवकाशः। "अप्सु वासस्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयेत्तपः" इति मनुः ॥ २६ ॥

टि० — अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः—अत्यन्तं हिमानाम् उत्किराः अनिलाः यासु (बहु०) ताः, 'जिसमें हवायें ढेरों बर्फ बिखेरती थीं;' उत्किराः— उत् + कृ + क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३. १. १३५) 'बिखेरना'। यह सारा समास 'सहस्यरात्रीः' के साथ लगेगा। सहस्यरात्रीः—सहस्यस्य रात्रीः (षष्ठीतत्पु०), पौष की रातें; सहस्य शब्द विशेष रूप से पौष के लिए प्रयुक्त किया गया है। देखो, 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' अमर। किन्तु यहाँ पर वह सरदी के लिए प्रयुक्त हुआ है। उदवासतत्परा— उदके वासः उदवासः (तत्पु०), स परो यस्याः (बहु०) सा तत्परा, उदवासे तत्परा इति सा, 'जल में खड़े रहने पर जुटी'। परस्पराक्रन्दिनि— परस्परम् आक्रन्दतीति तत् परस्पराक्रन्दि (नपुं०) तस्मिन्। यह 'मिथुने' के साथ लगेगा। परस्पर—यह समास नहीं लिया जायगा, देखो, 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' (वार्त्तिक) अर्थात् सर्वनाम शब्द का द्वित्व हो जाता है जब परस्पर कार्य या कार्य का अदल बदल सूचित होता है और इस प्रकार का बना शब्द विकल्प में समास होता है। 'पर' और 'अन्य' का समास नहीं होता जैसा कि भट्टोजी दीक्षित ने कहा है:—'बहुलग्रहणादन्यपरयोर्न समासवत् इतरशब्दस्य तु नित्यम्'। चक्रवाकयोः—चक्रवाकी च चक्रवाकश्चेति चक्रवाकौ (एकशेषद्वन्द्व); तयोः। चक्रवाक और चक्रवाकी रात के समय बिछुड़ जाते हैं और एक दूसरे के वियोग में रो-रोकर रात व्यतीत करते हैं। कहा जाता है कि वे दोनों किसी जलाशय व नदी तट अथवा सरोवर के आमने-सामने तटों पर बैठ कर रात व्यतीत करते हैं। वे एक दूसरे के चिल्लाने की आवाज

सुनते हैं परन्तु एक दूसरे के पास उड़ कर जा नहीं सकते। इस प्रकार रात में उनका मिलना असम्भव रहता है। देखो,

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घतराम्। शाकुन्तल

कृपावती—शिव के लिए छटपटा रहा पार्वती का हृदय चकवा-चकवी के दुखी जोड़े के साथ सहानुभूति रखता है।

हिन्दी—पूष की उन रातों को, जिनमें हवायें ढेरों वर्फ विखेरती थीं, वह (पार्वती) जल में तन्मय भाव से खड़े होकर (ही) व्यतीत करती थी और सामने बिछुड़े हुए एक दूसरे को लक्ष्य करके चिल्लानेवाले चकवे के जोड़े पर दया दिखाती थी। [२६]

मुखेन सा पद्म-सुगन्धिना निशि
प्रवेपमानाधर-पत्र-शोभिना।
तुषार-वृष्टि-क्षत-पद्म-सम्पदां
सरोज-संधानमिवाकरोदपाम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सा निशि पद्म-सुगन्धिना प्रवेपमानाधर-पत्र-शोभिना मुखेन तुषार-वृष्टि-क्षत-पद्म-सम्पदाम् अपां सरोज-संधानम् अकरोत् इव।

वाच्यपरि०—तया....अक्रियत।

श०—निशा—रात्रि। प्रवेपमान—काँप रहे। अधर-पत्र—पत्ते का-सा होंठ। तुषार—वर्फ। वृष्टि—वर्षा। क्षत—नाशित। सम्पत्—सम्पत्ति। सरोज—कमल। संधान—संयोग।

मल्लि०—मुखेनेति सा पार्वती। निशि रात्रौ। (पद्मसुगन्धिना) पद्मवत् सुगन्धिना सुरभिणा, "गन्धस्येत्" इत्यादिना इकारः। (प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना) प्रवेपमानः कम्पमानः अधर ओष्ठ एव पत्रं दलम्, तेन शोभते इति। तथोक्तेन मुखेन, (तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां) तुषारवृष्ट्या तुहिनवर्षेण क्षता नाशिताः पद्मसम्पदः यासां तासाम्। अपां सरोजसन्धानं पद्मसङ्घटनम्। अकरोत् इव इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः। पद्मान्तरं तुहिनेन उपहन्यते तन्मुखपद्मन्तु न तथेति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यत इत्युभयोः सङ्करः॥ २७॥

टि०—पद्मसुगन्धिना—शोभनो गन्धो यस्मिन् तत् सुगन्धि, पद्मेन इव सुगन्धिना इति पद्मसुगन्धिना, 'कमल की सुगन्ध द्वारा', गन्ध

शब्द गन्धि में बदल जाता है यदि उत्, पूति आदि बाद में हो। (गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः पा० ५. ४. १३५)। प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना—प्रकर्षेण वेपमानः अधरः एव पत्रं तेन शोभत इति तेन, 'काँप रहे कोमलपत्र रूपी निचले होंठ से शोभायमान'। तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदाम्—तुषारवृष्ट्या क्षता पद्मसम्पत् यासां (बहु०) तासाम्, बर्फ़ की वर्षा से कमलों की सम्पत्ति जिनकी नष्ट कर दी गई है। सरोजसन्धानम्—सरोजानां सन्धानम्, 'कमलों का संयोग'। बर्फ़ की वर्षा से जलाशय कमल रहित हो जाते थे, पर वे पार्वती के मुख-रूपी कमल से शोभायमान प्रतीत होते थे, क्योंकि पार्वती का मुख कमल-सा सुगन्धित था और उसका अधरोष्ठ कमल-दल के समान काँप रहा था।

हिन्दी—वह रात के समय कमल सदृश सुगन्धित और काँप रहे कमल-पत्र रूपी अधरोष्ठ से शोभायमान मुख से बर्फ की वर्षा द्वारा नष्ट हुई कमलरूपी सम्पदावाले जलों में मानो (पुनः) कमल का संयोग करती थी। [२७]

स्वयं-विशीर्ण-द्रुम-पूर्ण-वृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥ २८॥

अन्वयः—स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता तपसः परा काष्ठा हि। पुनः (किन्तु) तया तदपि अपाकीर्णम्। अतः प्रियंवदां तां पुराविदाः अपर्णा इति च वदन्ति।

वाच्यपरि०—स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तितया....परया काष्ठया (भूयते)....सा....अपाकीर्णवती।....पुराविद्भिः....सा उच्यते।

शा०—विशीर्ण—झड़े हुए। द्रुम—वृक्ष। पर्ण—पत्र। वृत्ति—जीविका। परा—परम। काष्ठा—उत्कर्ष। अपाकीर्ण—परित्यक्त, अस्वीकृत। पुराविद्—पुरातत्त्ववेत्ता। प्रियंवदा—मधुरभाषिणी। अपर्णा—पत्तों के बिना।

टि०—स्वयमिति। (स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता) स्वयं

विशीर्णानि स्वतश्च्युतानि द्रुमपर्णानि एव वृत्तिः जीवनं यस्य तस्य भावस्तत्ता। तपसः परा काष्ठा परमुत्कर्षो हि "काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि" इत्यमरः। तया देव्या। पुनः तत् पर्णवर्तनम् अपि अपाकीर्णम् अपाकृतम् अतः पर्णापाकरणाद्धेतोः। (प्रियंवदां) प्रियं वदतीति प्रियंवदा "प्रियवशे वदः खच्" इति खच् प्रत्ययः, "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः। तां पार्वतीम्। पुराविदः पुराणज्ञाः। तपः करणसमये अविद्यमानं पर्णभक्षणं यस्याः सा अपर्णा इति वदन्ति, नामान्तरसमुच्चयार्थश्चकारः। स्वयं प्रियंवदाः परेषामपि प्रियवादभाजनानि भवन्तीति भावः। अत्रापर्णामित्यपपाठः, इतिशब्दाभिहिते द्वितीयानुपपत्तेः। यथाह वामनः–निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः, परिगणनस्य प्रायिकत्वात्" इति॥ २८॥

टि०—स्वयंविशीर्णवृत्तिता—स्वयं विशीर्णानि द्रुमाणां पर्णान्येव वृत्तिः यस्मिन् तस्य भावस्तत्ता, स्वयमेव वृक्षों से गिरे हुए पत्तों पर जीविका; विशीर्ण–वि+√शॄ+क्त। परा काष्ठा–परम सीमा। अपाकीर्ण—परित्यक्त, अस्वीकृत; अप + आ+√ कॄ 'बिखेरना'+ क्त; यह रूप विशीर्ण की भाँति बना है। अप और आ उपसर्गों के साथ √कॄ का अर्थ बदल गया है (उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते)। पुराविदः—पुरा तत्त्वं विदन्तीति ते, पुराविद्+ क्विप्, पुरातत्त्ववेत्ता। प्रियंवदाम्—प्रियं वदन्तीति; प्रिय +√वद् +खच् (प्रियवशे वदः खच् पा० ३. २. ३८), प्रिय के पश्चात् मुम् जोड़ा जाता है। (अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् पा० ६. ३. ६७)। अपर्णा—नास्ति पर्णभक्षणं यस्याः सा अपर्णा (मध्यमपदलोपी बहु०), ताम्। कुछ लोग यहाँ 'अपर्णाम्' पढ़ते हैं किन्तु व्याकरण की दृष्टि से यह पाठ अशुद्ध है, क्योंकि 'इति' अव्यय द्वारा कर्म सूचित किया गया है, सो यहाँ कर्म विभक्ति होगी। देखो, वामनः—निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः, परिगणनस्य प्रायिकत्वात्।'

हिन्दी—वृक्षों के स्वयं झड़े हुए पत्तों पर निर्वाह करना तपस्या का परम उत्कर्ष है। परन्तु उसने वह भी ग्रहण न किया, और

इसलिए उस प्रियवादिनी (पार्वती) को पुरातत्त्व के ज्ञाता 'अपर्णा' नाम से पुकारते हैं। [२८]

मृणालिका - पेलवमेवमादिभि-
र्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं
तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥

अन्वयः—मृणालिका-पेलवं स्वम् अङ्गम् एवमादिभिः व्रतैः अहर्निशं ग्लपयन्ती सा कठिनैः शरीरैः उपार्जितं तपस्विनां तपः दूरम् अधश्चकार।

वाच्यपरि०—"ग्लपयन्त्या तया...अधश्चक्रे।

श०—मृणालिका—कमल-नाल। पेलव—कोमल। व्रत—यम-नियम। अहर्निशम्—दिन-रात। ग्लपयन्ती—क्षीण करती हुई। कठिन—दृढ़। अधश्चकार—नीचा दिखाया।

मल्लि०—मृणालिकेति। मृणालिकापेलवं पद्मिनीकन्दकोमलं स्वं स्वकीयम्। अङ्गम् शरीरम्। एवम् आदिभिः एवमुक्तप्रकारतोयाग्निमध्यवासव्रतमादिर्येषां तैः व्रतैः। अहश्च निशा च अहर्निशम् समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ग्लपयन्ती कर्शयन्ती सा पार्वती। कठिनैः क्लेशसहैरित्यर्थः। शरीरैः उपार्जित सम्पादितं तपस्विनाम् ऋषीणाम् तपः दूरम् अत्यन्तम् अधश्चकार तिरश्चकार अतिशिश्ये इत्यर्थः। तपस्विभिरपि एवं तपः कर्त्तुं न शक्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

टि०—मृणालिकापेलवम्—मृणालिका इव पेलवम् (कर्म०), 'कमल-नाल सदृश कोमल'। इसका सम्बन्ध 'अङ्गम्' से है। यहाँ इसके शरीर की कोमलता की तुलना कमल-नाल की कोमलता से की गई है। देखो, अनेन कल्याणि ! मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यहर्निशम्। विक्रम०

एवमादिभिः—एवम् आदिः येषाम् (बहु०) ते एवमादयः, तैः। इससे पार्वती की विविध कठोर तपस्याओं का बोध होता है। अहर्निशम्—(अव्यय) अहश्च निशा चेति (समाहारद्वन्द्व), 'दिन-रात' दिन और रात का सम्बन्ध निकटतम होने के कारण यहाँ द्वितीया का प्रयोग

किया गया है। (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे पा० २. ३. ५)। ग्लपयन्ती—√ग्लै १ पर० 'क्षीण होना'+णिच्+शतृ+ङीप्, 'क्षीण करती हुई'। पद्य में बताया गया है कि पार्वती ने अपने कोमल शरीर से ऐसी कठोर तपस्या की कि दृढ़ शरीरधारी तपस्वी पुरुष भी वैसी तपस्या करने में असमर्थ थे। यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है क्योंकि उपमेय उपमान से बढ़ जाता है।

हिन्दी—कमल-नाल के समान कोमल अपने शरीर को उसने इस प्रकार दिन-रात व्रत आदि से क्षीण किया और दृढ़ देहों द्वारा संचित की तपस्वियों की तपस्या को नीचा दिखा दिया। [२९]

अथाजिनाषाढ-धरः प्रगल्भ-वाग्
ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥ *

अन्वयः—अथ अजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक् ब्रह्ममयेन तेजसा ज्वलन् इव कश्चित् जटिलः शरीरबद्धः प्रथमः यथा तपोवनं विवेश।

वाच्यपरि०—....अजिनाषाढधरेण प्रगल्भवाचा....ज्वलता....केनचित् जटिलेन शरीरबद्धेन प्रथमाश्रमेण इव....विविशे।

श०—अजिन—काली मृगछाला। आषाढ—पालाश-दण्ड। प्रगल्भवाक्—वाक्पटु। ज्वलन्—दीप्तिमान। तेजस्—ब्रह्म-तेज। जटिल—जटाधारी। शरीरबद्ध—मूर्तिमान। प्रथमाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम।

मल्लि—अथेति। अथ अनन्तरम्। अजिनाषाढधरः अजिनं कृष्णमृगत्वक्। आषाढः प्रयोजनमस्येति आषाढः पालाशदण्डः, "पालाशो दण्ड आषाढः" इत्यमरः। "विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयोः" इति अण्प्रत्ययः, तयोः धरः तथोक्तः। प्रगल्भवाक् प्रौढवचनः। ब्रह्ममयेन वैदिकेन। तेजसा ब्रह्मवर्चसेन इत्यर्थः। ज्वलन्निव स्थितः, इवशब्दो निर्धारणार्थः। कश्चित् अनिर्दिष्टः जटिलः जटावान् ब्रह्मचारीति शेषः, पिच्छादित्वादिलच् प्रत्ययः। शरीरबद्धः बद्धशरीर शरीरवान् इत्यर्थः। वाहिताग्न्यादिषु पाठात् साधुः। प्रथमाश्रमः यथा ब्रह्मचर्याश्रम इव; यथाशब्द इवार्थे। तपोवनं देव्या इति शेषः। विवेश प्रविष्टवान्॥३०॥

टि०—अथ इससे नये विषय का आरम्भ सूचित किया जाता है। इसके विविध अर्थों के लिए देखो,

अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले।
विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये ॥ मेदिनी

अथ शब्द ब्रह्मा के कण्ठ में से निकला कहा गया है, इसलिए यह माङ्गलिक समझा जाता है।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेव ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातो तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

अजिनाषाढ-धरः—अजिनं च आषाढश्च इति अजिनाषाढौ (द्वन्द्व०), तयोः धरः (तत्पु०); अजिन—काले मृग की त्वचा। ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य आश्रम में काली मृगछाला धारण और पलाशदण्ड ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। देखो,

'हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं ब्राह्मणस्य' आपस्तम्ब

और 'ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ' मनु

जिस व्यक्ति का वर्णन किया गया है वह शिव के अतिरिक्त और कोई नहीं था तथा वह पार्वती की प्रेम-परीक्षा के लिए ब्रह्मचारी का रूप धारण करके आया था। **प्रगल्भ-वाक्**—प्रगल्भा वाक् यस्याः सः (बहु०), 'गम्भीर वाणीवाला, वाक्पटु'। **ब्रह्ममयेन**—ब्रह्ममय (ब्रह्म +मयट्) का तृतीया। इसका सम्बन्ध 'तेजसा' से है। **जटिलः**—जटाः सन्त्यस्येति; जटा + इलच्। **शरीर-बद्धः**—शरीरेण बद्धः, 'शरीर से युक्त', अर्थात् 'मूर्त्तिमान' अथवा समास का विग्रह ऐसे भी हो सकता है:—शरीरं बद्धं यस्य (बहु०) सः। यहाँ बद्ध शब्द बहुव्रीहि समास का विकल्प से दूसरा पद होगा (वाहिताग्न्यादिषु पा० २. २. ३७); इस प्रकार 'बद्धशरीरः' भी रूप होगा। इस पद्य में साकार की भाववाचक के साथ सदृशता दिखाई गई है। ब्रह्मचारी (साकार) की प्रथमाश्रम (भाववाचक) के साथ तुलना की गई है। प्रायः कालिदास ने भाववाचक पदार्थ की साकार के साथ तुलना की है, किन्तु जब वह किसी साकार की भाववाचक के साथ तुलना करता है तब वह भाववाचक को ही साकार

प्रकट करता है। यहाँ भाववाचक 'प्रथमाश्रम' को पहले आकार प्रदान किया गया है और बाद में ब्रह्मचारी से तुलना की गई है (शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा।) कुछ लोग 'यथा' को 'इव' के अर्थ में लेते हैं, 'इव' से कल्पना सूचित होती है न कि उपमा। परंतु 'यथा' श्रौती का सूचक है और केवल तुलनात्मक 'इव' के लिए प्रयुक्त हो सकता है न कि सम्भावना-सूचक 'इव' के स्थान पर। देखो, श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।

हिन्दी—इसके अनन्तर काली मृगछाला धारण और पलाश-दण्ड ग्रहण किए कोई वाक्पटु, ब्रह्म-तेज से दीप्तिमान, जटाधारी (ब्रह्मचारी), ब्रह्मचर्य का माना रूप धारण किए तपोवन में आया। [३०]

> तमातिथेयी बहुमान-पूर्वया
> सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
> भवन्ति साम्येऽपि निविष्ट-चेतसां
> वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥ [३१]

अन्वयः—आतिथेयी पार्वती बहुमानपूर्वया सपर्यया तं प्रत्युदियाय। साम्ये (सति) अपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवाः क्रियाः भवन्ति।

वाच्यपरि०—आतिथेय्या पार्वत्या....सः प्रत्युदीये।....अतिगौरवाभिः क्रियाभिः भूयते।

श०—आतिथेयी—अतिथियों का सत्कार करनेवाली। बहुमान—अधिक सत्कार। प्रत्युदियाय—स्वागत के लिए आगे बढ़ी। सपर्या—पूजा। साम्य—तुल्य। निविष्ट—स्थिर चित्त। वपुस्—शरीर। विशेष—खास। गौरव—प्रतिष्ठा। क्रिया—चेष्टा।

मल्लि०—तमिति। अतिथिषु साध्वी आतिथेयी। पथ्यतिथ्यादिना ढञ् प्रत्ययः, टिड्ढाणञित्यादिना ङीप्। पार्वती तं ब्रह्मचारिणम् बहुमान-पूर्वया बहुमानः पूर्वो यस्यास्तया गौरवपूर्वया इत्यर्थः। सपर्यया अर्चया; "सपर्यार्चार्हणाः समः" इत्यमरः। प्रत्युदियाय प्रत्युज्जगाम। कथं समाने-ऽपि तस्याः तादृशी प्रतिपत्तिः, अत आह—साम्ये सति अपि निविष्ट-चेतसां स्थिरचित्तानाम्। वपुर्विशेषेषु शरीरविशेषेषु। अतिशयित

गौरवं यासु ताः **अतिगौरवाः** अतिगौरवसहिताः । **क्रियाः** चेष्टाः भवन्ति प्रवर्तन्त इत्यर्थः । साधवो न साम्याभिनिवेशिन इति भावः ॥ ३१ ॥

टि०—**आतिथेयी**—अतिथिषु साध्वी; अतिथि + ढञ् (=एय) (पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् पा० ४. ४. १०४) आतिथेयम् + ङीप् (स्त्री० प्रत्यय) । ऐसे ही और रूप हैं:—पाथेयम्, वासतेयी (रात्रिः), स्वापतेयम् (धनम्), आदि । **बहुमान-पूर्वया**—बहुमानः पूर्वः यस्याः तया (बहु०), 'जिससे पहले अधिक आदर-भाव किया गया था' । **सपर्या**—सपर (कण्ड्वादि वर्ग का शब्द) 'पूजार्थे' + यक् (कण्ड्वादिभ्यो यक् पा० ३. १. २७); सपर्य +अ (अ प्रत्ययात् पा० ३. ३. १०२) +टाप् (स्त्री० प्रत्यय) । **प्रत्युदियाय**—स्वागत के लिए उठी; प्रति+उत+इ 'जाना'। इस भाव के लिए देखो,

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् । माघ० १. १५.
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत् सेति ननन्दतुस्तौ । रघु०२.२२.
सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् । रघु० ५. २२.

प्राचीन समय में अतिथि-सेवा पर बहुत जोर दिया जाता था । इसे उन पाँच यज्ञों में से एक यज्ञ समझा जाता था, जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ के लिए करना आवश्यक होता था । देखो,

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः ।
एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥ अमर

और भी देखो,

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ मनु ३. ७०.

निविष्ट-चेतसाम्—निविष्टं चेतः येषां ते निविष्टचेतसः (बहु०), तेषाम्, 'उनका जिनका मन एकाग्र हो रहा था' । **साम्ये**—समस्य भावः साम्यम्, (सम+ष्यञ्), 'तुल्यता' । **वपुर्विशेषेषु**—वपुष्षु विशेषाः इति वपुर्विशेषाः तेषु, 'खास-खास व्यक्तियों के विषय में' । **अतिगौरवाः**—अतिशयितं गौरवं यासु ताः (बहु०) । वे व्यक्ति भी जो सम-बुद्धि हैं, सम्भ्रान्त जनों के प्रति आदर-भाव का व्यवहार करते हैं । यही भाव देखो,

आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति। मालविका० १.

हिन्दी— अतिथियों का अधिक सत्कार करनेवाली पार्वती पहले बहुत आदर करके उस (ब्रह्मचारी) के पूजन के लिए आगे बढ़ी। समानता रहने पर भी स्थिर-चित्तवालों की क्रियायें विशेष व्यक्तियों के प्रति बड़ी गौरववाली होती हैं। [३१]

विधि-प्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां
परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा
प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झित-क्रमः॥ ३२॥

अन्वयः—सः विधि-प्रयुक्तां सत्क्रियां परिगृह्य क्षणं परिश्रमं विनीय च नाम उमाम् ऋजुनैव चक्षुषा पश्यन् अनुज्झित-क्रमः (सन्) वक्तुं प्रचक्रमे।

वाच्यपरि०—तेन....पश्यता अनुज्झितक्रमेण (सता) वक्तुं प्रचक्रमे।

श०—सत्क्रिया—अतिथि-सत्कार, पूजा। परिगृह्य—स्वीकार करके। क्षणम्—क्षण भर। परिश्रम—थकान। विनीय—दूर करके। ऋजु—सरल। चक्षुष्—दृष्टि। अनुज्झित-क्रम—शिष्टाचार को उल्लंघन किये बिना। प्रचक्रमे—आरम्भ कर दिया।

मल्लि०—विधीति। सः ब्रह्मचारी। विधि-प्रयुक्ताम् विधिना प्रयुक्ताम् अनुष्ठिताम्। सत्क्रियां पूजाम्। परिगृह्य स्वीकृत्य। क्षणं परिश्रमं विश्रामं च विनीय नाम नामेति अपरमार्थे। अथ उमाम् ऋजुनैव विलास-रहितेनैव। चक्षुषा पश्यन् अनुज्झित-क्रमः अत्यक्तोचितपरपाटीकः सन् वक्तुं प्रचक्रमे प्रारेभे॥ ३२॥

टि०—विधि-प्रयुक्ताम्—विधिना प्रयुक्ता विधिप्रयुक्ता ताम्, 'शास्त्र की विधि के अनुसार की गई को'। सत्क्रियाम्—सत् क्रिया सत्क्रिया (तत्पु०) (कुगतिप्रादयः पा० २. २. १८), ताम्। सत् उपसर्ग के क्रिया के साथ जुड़ने पर अर्थ होगा 'आदर' (आदरानादरयोः सदसती पा० १. ४. ६३)। परिगृह्य—परि+√ग्रह्+क्त्वा (=ल्यप्), स्वीकार करके। विनीय—वि√नी+क्त्वा (=ल्यप्), दूर करके। शिव को, जो ब्रह्मचारी के वेश में थे, थके हुए यात्री का अभिनय करना था। नाम—इस अव्यय का यहाँ प्रयोग इस बात के दिखाने के लिए हुआ है जो सत्य नहीं

क्योंकि शिव वास्तव में थके नहीं थे। ऋजुना—'सरल' तृ० एक व०। भावगर्भितता के विरोध में सरलता का बोध होता है। यद्यपि यह अवसर ऐसा था कि शिव ने पार्वती को अच्छी प्रकार जाँच की दृष्टि से देखा होता परन्तु शिव ने उदासीनता दिखाई और पार्वती को ऐसे देखा जैसे कोई साधारण व्यक्ति देखता हो। अनुज्झितक्रमः—न उज्झितः क्रमः येन (बहु०) सः, वह जिसने शिष्टाचार का उल्लंघन नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि शिव का अपने भावों पर पूरा नियन्त्रण था। प्रचक्रमे—प्र+ √क्रम् 'आरम्भ करना' + लङ्। प्र और उप सहित √क्रम् आत्मनेपदी है। (प्रापाभ्यां समर्थाभ्याम् पा० १. ३. ४२), अन्यथा √क्रम् उभयपदी है।

हिन्दी—उस (ब्रह्मचारी) ने विधिपूर्वक सत्कार स्वीकार कर, क्षण भर में थकान को दूर किया। उन्होंने उमा (पार्वती) को सरल दृष्टि से देखते हुए, उचित शिष्टाचार का त्याग किये बिना, बोलना आरम्भ कर दिया। [३२]

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं
जलान्यपि स्नान-विधि-क्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे
शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—क्रियार्थं समित्कुशं सुलभम् अपि? जलानि ते स्नान-विधि-क्षमाणि अपि? स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे अपि? खलु शरीरम् आद्यं धर्म-साधनम्।

वाच्यपरि०—क्रियार्थेन समित्कुशेन सुलभेन (भूयते), जलैः ....स्नानविधिक्षमैः... (भूयते),....। ... शरीरेण आद्येन धर्मसाधनेन (भूयते)।

श०—समित्—होम के लिए लकड़ी। विधि—क्रिया। क्षम—योग्य। धर्म-साधन—धर्म सिद्ध करने का उपाय।

मल्लि०—अपीति। अत्र अपिशब्दः प्रश्ने। क्रियार्थं होमादि-कर्मानुष्ठानार्थम्। समिधश्च कुशाश्च समित्कुशम्, "जातिरप्राणिनाम्" इति

द्वन्द्वैकवद्भावः । सुलभम् अपि ? सुलभं कच्चित् ? जलानि ते तव स्नान-विधिक्षमाणि स्नानक्रियायोग्यानि । अपि कच्चित् ? किञ्च स्वशक्त्या निजसामर्थ्यानुसारेण । तपसि प्रवर्तसे अपि ? देहम् अपीडयित्वा तपश्चरसि कच्चित् ? इत्यर्थः । युक्तञ्च नाम एतत्, खलु यस्मात् शरीरम् आद्यं धर्मसाधनम् । धर्मस्तु कायेन मनसा वाचा बुद्ध्या धनादिनां च बहुभिः साध्यते, तेषु च वपुः एव मुख्यं साधनम्, सति देहे धर्मार्थ-काममोक्षलक्षणाश्चतुर्वर्गाः साध्यन्ते । अत एव "सततमात्मानमेव गोपायीत" इति श्रुतिः ॥ ३३ ॥

टि०—अपि—अव्यय; वाक्य के आरम्भ में यह अव्यय प्रश्न के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसके भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए देखो,

'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' अमर
'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये ।
तथा युक्तपदार्थे च कामचारक्रियासु च ॥' विश्व

क्रियार्थम्—क्रियायै इदम्; समास के वास्तविक शब्द क्रिया और अर्थ के साथ इस समास का विग्रह नहीं किया जा सकता क्योंकि नित्यसमास का विग्रह हो ही नहीं सकता । (अविग्रहो नित्यसमासः अस्वपदविग्रहो वा) । यह 'समित्कुशम्' का विशेषण है और इसी के अनुसार इसका लिङ्ग तथा वचन है । समित्कुशम्—समिधश्च कुशाश्चेति समित्कुशम् (द्वन्द्व) । द्वन्द्व समास एक वचन में होता है, जब समास के शब्द वस्तुओं (न कि गुणों) और पशुओं को सूचित करते हैं तथा जब जाति को विशेष रूप से संकेत किया जाता है । (जातिरप्राणिनाम् पा० २.४.६) । जातिसूचक नामों के द्वन्द्व समास, जो कि निर्जीव वस्तुओं के हैं, एक वचन में ही होते हैं । (देखो, भट्टोजिः—जातिप्राधान्य एवायमेकवद्भावः द्रव्यविशेषविवक्षायां तु बदरामलकानि, अर्थात् यह तब होता है जब जाति से कोई रुकावट नहीं होती । उदाहरणतया बदरामलकानि ।) सुलभम्—सु+√लभ्+खल् (ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् पा० ३. ३. १२६) । स्नान-विधि-क्षमाणि—स्नानस्य विधये क्षमाणि (तत्पु०), 'स्नान के योग्य' । शरीरम्—शीर्यते इति शरीरम् (शॄ+ईर उ०

प्रत्यय) अर्थात् वह जो शीर्ण हो जाता है। अतः सावधान होकर इसकी रक्षा करनी चाहिए। बिना सोच-विचार किये कोई काम नहीं करना चाहिए। अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ता है। देखो, भर्तृहरि नीति० ९९ अविरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयग्राही शल्यतुल्यो विपाकः।

धर्म-साधनम्—धर्मस्य साधनम् (तत्पु०)। यह शरीर धर्म-कर्म के अनुष्ठान के लिए परम साधन है। अतः इसकी बड़ी सावधानी से देख-भाल करनी चाहिए। कालिदास ने शरीर की रक्षा पर खास ज़ोर दिया है, क्योंकि इसी के द्वारा आध्यात्मिक तथा आर्थिक उन्नति निर्भर है।

हिन्दी—होम आदि के लिए क्या समिध और कुशा सहज से प्राप्त हो जाती है? स्नान के लिए क्या योग्य जल मिल जाता है? क्या अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या में प्रवृत्त होती हो? निश्चय से शरीर धर्म के साधन में मुख्य (साधन) है। [३३]

अपि त्वदावर्जित - वारि - सम्भृतं
प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तक - पाटलेन ते
तुलां यदारोहति दन्त-वाससा ॥ ३४ ॥

अन्वयः—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् आसां वीरुधां प्रवालम् अनुबन्धि अपि? यत् चिरोज्झितालक्तक-पाटलेन ते दन्तवाससा तुलाम् आरोहति।

वाच्यपरि०—त्वदावर्जितवारिसम्भृतेन....प्रवालेन अनुबन्धिना.... (भूयते), येन....तुला आरुह्यते।

श०—आवर्जित—सिक्त। वारि—जल। सम्भृत—उत्पन्न। वीरुध्—लता। प्रवाल—कोंपल। अनुबन्धिन्—निरन्तर। उज्झित—त्यक्त। अलक्तक—लाक्षारस। पाटल—लाल। दन्तवासस्—होंठ।

मल्लि०—अपीति। (त्वदावर्जित-वारिसम्भृतम्) त्वया आवर्जितेन सिक्तेन वारिणा सम्भृतं जनितम् आसां वीरुधां लतानाम्। प्रवालं पल्लवम् अनुबन्धि अपि अनुस्यूतं किम्? यम् प्रवालं चिरोज्झितः चिरकालत्यक्तः अलक्तकः लाक्षारागो येन तत् यथाऽपि पाटलं स्वभावरक्तमित्यर्थः तेन चिरोज्झितालक्तक-पाटलेन। ते तव। दन्तवाससा अधरेण, "ओष्ठाधरौ

तु रदनच्छदौ दशनवाससी" इत्यमरः । तुलां साम्यम् । आरोहति गच्छति इत्यर्थः । अत्र तुलाशब्दस्य सादृश्यवाचित्वात् तद्योगेऽपि "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्" इति न तृतीयाप्रतिषेधः, तत्र सूत्रे सदृशवाचिन एव ग्रहणादिति ॥ ३४ ॥

टि०—त्वदावर्जित-वारि-सम्भृतम्—त्वया आवर्जितेन वारिणा सम्भृतम् (तत्पु०); आवर्जित–आ+√वृज्+क्त ; √वृज् ७ पर० का अर्थ है 'हटाना' परन्तु आ उपसर्ग के साथ इसका अर्थ है 'छिड़कना' । सम्भृत–सम्+√भृ १,३ उभय० 'पालना'+क्त । वीरुधाम्–वि+√ रुध्+क्विप् (क्विप् पा० ३. २. १७८) ; वि की इ को दीर्घ हो जाता है (अन्येषामपि दृश्यते पा० ६. ३. १३७)। अनुबन्धि—(नपुं०) अनु+√बन्ध् ९ पर० + णिनि, 'निरन्तर' । चिरोज्झितालक्तक-पाटलेन—चिराद् उज्झितः अलक्तकः येन (बहु०) तत् च पाटलं च (कर्म०) तेन । यह 'दन्तवाससा' का विशेषण है। पार्वती के होंठ जन्म से ही लाल थे, क्योंकि चिरकाल से लाक्षारस आदि के न लगाये जाने पर भी वह लाल रहते थे। दन्तवाससा तुलाम् आरोहति—दन्तवाससा का तृ० एक व०। तृतीया का प्रयोग सूत्र के विरुद्ध है (तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् पा० २. ३. ७५)। तुला और उपमा के साथ षष्ठी लगती है किन्तु मल्लिनाथ के मतानुसार तृतीया का प्रयोग ठीक है; क्योंकि 'तुला' शब्द संज्ञा के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ है (सादृश्यवाची) न कि विशेषण के रूप में (सदृशवाची)। परन्तु यदि हम 'दन्तवाससा' के साथ 'सह' लगा दें तो तृतीया के साथ 'सह' न्याययुक्त होने के कारण कोई बाधा नहीं की जा सकती।

हिन्दी—तुम्हारे जल-सिंचन से उत्पन्न हुई क्या इन लताओं के नये पत्ते निकल आये हैं, जो चिरकाल से अलक्तक रहित और स्वभाव से रक्त तुम्हारे अधरोष्ठ की समता करते हैं ? [३४]

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः
करस्थ - दर्भ - प्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि ! प्रचलैर्विलोचनै-
स्तवाक्षि - सादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अपि करस्थदर्भप्रणयापहारिषु हरिणेषु ते मनः प्रसन्नम् ? (हे) उत्पलाक्षि ! ये प्रचलैः विलोचनैः तव अक्षि-सादृश्यं प्रयुञ्जते इव ।

वाच्यपरि०:—....मनसा प्रसन्नेन (भूयते)....यैः....प्रयुज्यते.... ।

श०—दर्भ—कुश । प्रणय—प्रेम । उत्पलाक्षि—कमल-नयनि ! प्रचल—चंचल । विलोचन—नेत्र । सादृश्य—सदृशता ।

मल्लि०—अपीति । (करस्थ-दर्भ-प्रणयापहारिषु) करस्थान् दर्भान् प्रणयेन स्नेहेन अपहरन्ति इति ते तथोक्तेषु सापराधेषु इति भावः 'करस्थदर्भप्रणयापराधिषु, इति पाठे दर्भाणां प्रणयेन प्रार्थनया अपराधिषु । हरिणेषु विषये ते मनः प्रसन्नम् अपि ? न क्षुभितं किम् ? सापराधेषु अपि न कोपितव्यं तपस्विभिरिति भावः । हे उत्पलाक्षि ! ये हरिणाः । प्रचलैः चञ्चलैः । विलोचनैः नेत्रैः । तव अक्षि-सादृश्यं प्रयुञ्जते इव अभिनयन्तीव । प्रसन्नत्वात् मृगनेत्राणि त्वन्नयनैः साम्यमुपयान्तीति भावः । 'उत्पलाक्षेपचलैः' इति पाठान्तरे उत्पलकम्पचलैः, "भावानयने द्रव्यानयनम्" इति न्यायेन क्षिप्यमाणोत्पलचलैरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

टि०—करस्थ-दर्भ-प्रणयापहारिषु—करे तिष्ठतीति करस्थः, कर + √स्था (आतोऽनुपसर्गे कः पा० ३. २. ३); करस्थान् दर्भान् प्रणयेन अपहर्त्तुं शीलं येषां (बहु०), ते करस्थदर्भप्रणयापहरिणः, 'जो हाथ में पकड़े कुश को सप्रेम छीन ले जाते हैं' । इससे उनकी घनिष्ठता प्रकट होती है । उत्पलाक्षि—उत्पले इव अक्षिणी यस्याः (बहु०) तत्सम्बुद्धौ, हे कमल-नयनि ! प्रचलैः—प्रकर्षेण चलैः, 'अत्यन्त चंचल' । कुछ लोग "उत्पलाक्षि प्रचलैः" के बदले "उत्पलाक्षेपचलैः" पाठ पढ़ते हैं । तब इस समास का अर्थ होगा 'जो कि हिल रहे कमलों की नाईं चंचल हैं' । अक्षिसादृश्यम्—अक्ष्णोः सादृश्यम् (तत्पु०); सदृशस्य भावः, सदृश + ष्यञ्,' सदृशता' । प्रयुञ्जते—लिट् प्रथम पु०; √ युज् ७ उभय० 'जोड़ना' का उपसर्ग के साथ अर्थ बदल जाता है । प्र + √युज् का अर्थ होगा 'अभिनय करना' । प्र और उप के साथ युज् आत्मनेपदी धातु है । (प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु पा० १. ८. ६४) । इस पद्य का भाव इसी सर्ग के १५वें पद्य में पहले वर्णन किया गया है । देखो, "अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा...।"

हिन्दी—क्या तुम्हारा मन इन हरिणों में प्रसन्न है, जो हे कमलाक्षि ! तुम्हारे हाथ में पकड़ी हुई कुशा को स्नेह के कारण छीन ले जाते हैं और चंचल नेत्रों से तुम्हारे नेत्रों की सदृशता का अभिनय करते हैं ? [३५]

यदुच्यते पार्वति ! पाप-वृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच
तथा हि ते शीलमुदार - दर्शने !
*तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥**

अन्वयः—(हे) पार्वति ! रूपं पाप-वृत्तये न इति यत् उच्यते तत् वचः अव्यभिचारि। तथा हि (हे) उदार-दर्शने ! ते शीलं तपस्विनाम् अपि उपदेशतां गतम् ।

वाच्यपरि०—''''रूपेण''''(भूयते),'''ब्रुवन्ति (लोकाः),''''तेन वचसा अव्यभिचारिणा (भूयते),''''शीलेन''''उपदेशता गता ।

श०—वृत्ति—आचरण । अव्यभिचारिन्—सब प्रकार से सत्य । उदार-दर्शना—रूपवती । शील—स्वभाव । उपदेशता—उपदेश-रूपत्व ।

मल्लि०—यदिति । हे पार्वति ! रूपं सौम्याकृतिः । पाप-वृत्तये पापाचरणाय न भवति इति यदुच्यते लोकैरिति शेषः, तद्वचः न व्यभिचरति न स्खलतीति अव्यभिचारि सत्यम्, "यत्राऽऽकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति", "न सुरूपाः पापसमाचारा भवन्ति" इत्यादयो लोकवादा न विसंवादमासादयन्ति इत्यर्थः । किमिति ज्ञायते ? तथा हि—हे उदार-दर्शने ! आयताक्षि ! सुरूपे ! इत्यर्थः । अथवा उन्नतज्ञाने ! विवेकवतीत्यर्थः । ते तव । शीलं सद्वृत्तम्, "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः । तपस्विनाम् अपि उपदिश्यते अनेनेति उपदेशः प्रवर्त्तकं प्रमाणम्, तत्ताम् उपदेशतां गतं प्राप्तम्। मुनयोऽपि त्वां वीक्ष्य स्ववृत्ते प्रवर्तन्ते इति भावः ॥ ३६ ॥

टि०—पापवृत्तये—पापस्य वृत्तये, 'पापाचरण के लिए'। अव्यभिचारि—न व्यभिचरतीति तत्, जो कभी मिथ्या प्रमाणित न हो। ब्रह्मचारी के कहने का तात्पर्य यह है कि सुन्दर व्यक्ति सदा सुन्दर कार्य करते हैं। देखो, 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।' सुभाषित० और

'न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ।' मृच्छ० । उदारदर्शने—उदारं दर्शनं यस्याः सा उदारदर्शना, तत्सम्बोधने, हे सुन्दर दर्शन वाली ! मल्लिनाथ के अनुसार दर्शन शब्द का अर्थ 'नेत्र' है और उदार शब्द का 'लम्बा' है, सारे समास का इस प्रकार अर्थ होगा 'दीर्घाक्षि !'। उपदेशता—उपदेशस्य भावः, उप+दिश् + घञ् + ता, शिक्षा अथवा ज्ञान प्रदान करने की दशा । एम. आर. काले ने यहाँ निम्न पद्य उद्धृत किया है:—

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ नैषध०

हिन्दी—हे पार्वती ! जो कहा जाता है कि सुन्दरता पापाचरण नहीं करती सो यह वचन असत्य नहीं । क्योंकि हे सुन्दरि ! (विशालाक्षि !) तुम्हारा सद्वृत्त तपस्वियों के लिए भी उपदेश का स्थान वन गया है । [३६]

विकीर्ण-सप्तर्षि-बलि-प्रहासिभि-
स्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलै-
र्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—एष महीधरः विकीर्ण-सप्तर्षि-बलि-प्रहासिभिः दिवः च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न (पावितः), अनाविलैः त्वदीयैः चरितैः तथा सान्वयः पावितः ।

वाच्यपरि०—एतं महीधरं बलिप्रहासीनि....च्युतानि गाङ्गानि सलिलानि....न (पावितवन्ति)....अनाविलानि त्वदीयानि चरितानि सान्वयः....पावितवन्ति ।

श०—विकीर्ण—विखेरे गये । बलि—भेंट । च्युत—पतित । गाङ्ग—गंगा सम्बन्धी । सलिल—जल । अनाविल—निर्मल । महीधर—पर्वत । अन्वय—कुल । पावित—पवित्र किया गया ।

मल्लि०—विकीर्णेति । एष महीधरः हिमवान् (विकीर्ण-सप्तर्षि-बलि-प्रहासिभिः) सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः, 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः, विकीर्णैः पर्यस्तैः सप्तर्षीणां सम्बन्धिभिः बलिभिः पुष्पो-

पुष्पहारैः प्रहसन्ति ये तथोक्तैः। दिवः अन्तरिक्षात्। च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न पावितः। अनाविलैः अकलुषैः। त्वदीयैः चरितैः यथा सान्वयः सपुत्रपौत्रः पावितः पवित्रीकृतः॥ ३७॥

टि०—विकीर्ण-सप्तर्षि-बलि-प्रहासिभिः—विकीर्णैःसप्तर्षीणां बलिभिः प्रहसन्तीति तानि विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासीनि तैः, विकीर्ण—वि+√कॄ 'बिखेड़ना,' + क्त; बलि का विशेषण है। सप्तर्षि—सप्त च ते ऋषयश्चेति सप्तर्षयः (कर्म०) (दिक्संख्ये संज्ञायाम् पा० २. १. ५१)। मरीचि, अङ्गिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ नाम के ये सात तारे हैं जो सप्तर्षि कहलाते हैं। बलि—इसका सम्बन्ध सप्तर्षियों द्वारा पुष्पोपहार से है। प्रहासिभिः—गंगा नदी का जल-पुंज उपहार-पुष्पों से मानो मुस्करा रहा है। मुस्कराहट और यश का वर्णन सफेद वस्तुओं से किया जाता है ('धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' सा० दर्पण) और यहाँ सफेद पुष्प गंगा नदी की सफेद मुस्कराहट माने गये हैं। दिवश्च्युतैः—आकाश से गिराये गये। सप्तर्षियों द्वारा आकाश से गिराये गये उपहार-पुष्पों से गंगा नदी के जल-पुंज की पवित्रता सूचित की गई है। अनाविलैः—न आविला अनाविलाः ताः, अकलुष। गंगा का जल-पुंज पार्वती के सत्कर्मों से अधिक पवित्र नहीं है। महीधरः—मह्याः धरः (षष्ठी-तत्पु०), धरतीति धरः, √धृ १ उ०+क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३. १. १३५); इससे पार्वती के पिता पर्वतराज हिमालय की ओर संकेत किया गया है। सान्वयः—अन्वयेन सह वर्त्तत इति (बहु०), वंशजों सहित।

हिन्दी—सप्तर्षियों द्वारा समर्पण करते समय बिखरे हुए उपहार-पुष्पों से शोभित, (और) स्वर्ग से पतित गंगा-जल द्वारा हिमालय वैसा पवित्र न हुआ जैसा तुम्हारे (इन) निष्पाप चरितों के कारण यह वंश सहित पवित्र हुआ है। [३७]

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे
त्रिवर्ग-सारः प्रतिभाति भाविनि !
त्वया मनोनिर्विषयार्थ - कामया
यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥ ३८॥

अन्वयः—(हे) भाविनि ! अनेन धर्मः सविशेषं त्रि-वर्ग-सारः अद्य मे प्रतिभाति, यत् मनोनिर्विषयार्थ-कामया त्वया एकः एव प्रतिगृह्य सेव्यते ।

वाच्यपरि०—....धर्मेण ....त्रिवर्गसारेण प्रतिभायते, ...मनोनिर्विषयार्थकामा त्वम् एकमेव (धर्मं)....सेवसे ।

श०—भाविनि—हे प्रशस्त भावोंवाली । सविशेषम्—विशेष रूप से । सार—तत्त्व । वर्ग—धर्म, अर्थ, काम । प्रतिभाति—प्रतीत होता है । निर्विषय—विषय रहित । प्रतिगृह्य—स्वीकार करके । सेव्यते—सेवन (आचरण) किया जाता है ।

मल्लि०—अनेनेति । हे भाविनि ! प्रशस्ताभिप्राये ! अनेन कारणेन । धर्मः सविशेषं सातिशयम् । अद्य मे (त्रि-वर्ग-सारः) त्रयाणां धर्मकामार्थानां वर्गः त्रिवर्गः "त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः" इत्यमरः ; तत्र सारः श्रेष्ठः प्रतिभाति । यत् यस्मात् कारणात् । (मनोनिर्विषयार्थकामया) मनसो निर्विषयौ अर्थकामौ यस्याः तया । त्वया एकः धर्म एव प्रतिगृह्य स्वीकृत्य सेव्यते । यत् त्वया अर्थकामौ विहाय धर्म एव अवलम्बितः, अतः सर्वेषां नः स श्रेयान् इति प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

टि०—भाविनि—प्रशस्तः भावः अस्याः अस्तीति तत्सम्बुद्धौ, √भू + णिनि + ङीप् + सम्बोधन । त्रिवर्गसारः—त्रयाणां वर्गाणां समाहारः त्रिवर्गम् (द्विगु०) तस्मिन् सारः (तत्पु०); धर्म, अर्थ, काम के वर्ग में से श्रेष्ठ । पार्वती द्वारा केवल धर्म का ही आश्रय ग्रहण करने से सिद्ध होता है कि धर्म ही त्रिवर्ग में से श्रेष्ठ है । कालिदास ने धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग का उल्लेख किया है परंतु धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के चतुर्वर्ग का नहीं, क्योंकि कालिदास के विचार में मोक्ष जीवन का परम श्रेष्ठ विषय है । इससे प्रकट होता है कि कालिदास वास्तविक जगत् में विचरता है, और उसके विचार सम्भावना के क्षेत्र से बाहर नहीं जाते । मनोनिर्विषयार्थ-कामया—मनसोः निर्विषयौ अर्थकामौ यस्याः सा (बहु०), 'जिसका मन अर्थ तथा काम का विषय नहीं है ; तथा निर्विषयौ—निर्गतः विषयः यस्येति सः निर्विषयः, तौ । अर्थकामौ—

अर्थश्च कामश्चेति तौ (द्वन्द्व०)। प्रतिगृह्य—प्रति+ग्रह् + ल्यप्। प्रति + √ग्रह् का अर्थ होता है 'स्वीकार करना'।

हिन्दी—हे धर्मप्रिये! क्योंकि तुम, अपने मन से अर्थ और काम के विषयों को निकालकर, एकमात्र धर्म को ही स्वीकार कर इसका आचरण कर रही हो, इसी लिए आज मुझे धर्म ही विशेष रूप से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, और काम) में श्रेष्ठ प्रतीत हो रहा है। [३८]

प्रयुक्त - सत्कार - विशेषमात्मना
न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नत - गात्रि ! सङ्गतं
मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे) सन्नत-गात्रि ! आत्मना प्रयुक्त-सत्कार-विशेषं मां परं सम्प्रतिपत्तुं न अर्हसि, यतः मनीषिभिः सतां सङ्गतं साप्तपदीनम् उच्यते।

वाच्यपरि०—....नार्ह्यते।....मनीषिणो....ब्रुवन्ति।

श०—सत्कारविशेष—विशेष आदर-भाव। सम्प्रतिपत्तुम्—समझने के लिए। सन्नत—झुका हुआ। गात्र—अङ्ग,शरीर। सङ्गत—भेंट, मित्रता। मनीषिन्—विद्वान्। साप्तपदीन—सात पदों द्वारा प्राप्त (सख्य)।

मल्लि०—सम्प्रति मनोरथं जिज्ञासुः प्रस्तौति—प्रयुक्तेति। आत्मना त्वया। प्रयुक्तः कृतः सत्कारविशेषः पूजातिशयो यस्य तं (प्रयुक्त-सत्कार-विशेषम्) मां परम् अन्यं सम्प्रतिपत्तुम् अवगन्तुम्। न अर्हसि। इति वक्तव्यात् ङीप्। हे सन्नत-गात्रि ! सन्नताङ्गि, "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः" यतः कारणात्। मनस ईषिभिः मनीषिभिः विद्वद्भिः; शकन्ध्वादित्वात् साधुः। सतां सङ्गतं सख्यम् सप्तभिः पदैः आपद्यत इति साप्तपदीनं सप्तपदोच्चारणसाध्यम् उच्यते। तच्च आवयोः त्वत्कृतसत्कारप्रयोगादेव सिद्धमित्यर्थः। "साप्तपदीनं सख्यम्" इति निपातनात् साधुः ॥ ३९ ॥

टि०—प्रयुक्त-सत्कार-विशेषम्—प्रयुक्तः सत्कारस्य विशेषः यस्मै सः (बहु०) प्रयुक्तसत्कारविशेषः तम्, 'उसको जिसका विशेष आदर भाव किया गया है'। परम्—पर शब्द यहाँ 'भिन्न व्यक्ति, आगन्तुक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके कई अर्थ हैं। देखो,

परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीवं तु केवले । मेदिनी

सम्प्रतिपत्तुम्—सम्+प्रति+√पद्+तुमुन्, 'मानना'; √पद् 'जाना' का अर्थ सम्+प्रति उपसर्गों के साथ बदल जाता है। पार्वती ब्रह्मचारी को अज्ञात व्यक्ति न समझे, ऐसे विचार को दृढ़ करने के लिए कवि ने एक साधारण प्रस्ताव, जो कि संसार में प्रचलित है, प्रस्तुत किया है:—'सन्नतगात्रि! मनीषिभिः सतां सङ्गतं साप्तपदीनम् उच्यते'। सन्नत-गात्रि—सम्यक् नतानि गात्राणि यस्याः सा सन्नतगात्री, तत्सम्बुद्धौ; सन्नत का अर्थ 'झुका हुआ' तथा 'सुन्दर' भी है। पहले अर्थ में इसमें गोल अंगों का बोध होगा और दूसरे अर्थ में सुन्दर। 'नतं चारु सन्नतम्' भोज। स्त्रीलिङ्ग रूप बनाने के लिए सन्नतगात्र को ङीष् प्रत्यय समास के दूसरे पद को विकल्प से जोड़ दिया जाता है। (वा० अङ्गगात्र-कण्ठेभ्यो वक्तव्यम्)। दूसरा रूप होगा सन्नतगात्रा। मनीषिभिः—मनस्+ईषा+इनि, तृतीया बहु०। साप्तपदीनम्—सप्तानां पदानां समाहारः सप्तपदम् (द्विगु) सप्तपदैः (सप्तभिः पदैः) प्राप्यते इति तत् सप्तपद+खञ् (=ईन्); 'सात पगों अथवा सात शब्दों द्वारा सिद्ध'। इसका प्रयोग यहाँ मित्रता के अर्थ में किया गया है, अतः यह रूप नियम विरुद्ध बना है। (साप्तपदीनं सख्यम् पा० ५. २. २२)। हिन्दुओं के विवाह में पति-पत्नी अग्नि की सात बार प्रदक्षिणा करते हैं और इससे सदैव के लिए विवाह-बन्धन में बँध जाते हैं। यदि हम 'पद' 'शब्द' के अर्थ में लें तो इस समास का अर्थ होगा, 'मित्रता सात शब्दों के उच्चारण से होती है।' देखो, **सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः** रघु० २. ५८। "सख्यं साप्तपदीनं स्यात्" अमर। यहाँ पद्य में 'पद' शब्द 'शब्द' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी—तुमने मेरा विशेष सत्कार किया है, अतएव मुझे पर-पुरुष मानना तुम्हें उचित नहीं है, क्योंकि, हे सुन्दरि! विद्वानों ने कहा है कि सज्जनों की मैत्री सात पदों द्वारा प्राप्त होती है। [३९]

अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमां
द्विजाति-भावादुपपन्न-चापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने!
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे) तपोधने ! अतः अत्र बहु-क्षमां भवतीं द्विजाति-भावात् उपपन्न-चापलः अयं जनः किञ्चित् प्रष्टुमनाः रहस्यं न चेत् प्रतिवक्तु म् अर्हसि।

वाच्यपरि०—....उपपन्नचापलेन अनेन जनेन ....प्रष्टु मनसा (भूयते)। रहस्येन....(भूयते)। ....अर्ह्यते।

श०—द्विजाति-भाव—ब्राह्मणत्व। उपपन्न—सुलभ। चापल—चपलता। बहु-क्षमा—क्षमावती। प्रष्टुमनाः—पूछने की इच्छावाला। रहस्य—गोपनीय बात।

मल्लि०—अत इति। हे तपोधने ! अतः सख्याद्धेतोः। अत्र प्रस्तावे। बहु-क्षमां बहूक्तिसहाम्, यद्वा क्षमावतीं। भवतीं त्वाम्। द्विजाति-भावात्—ब्राह्मणत्वात्। उपपन्न-चापलः सुलभधाष्टर्यः। अयं जनः स्वयमित्यर्थः। किञ्चित् प्रष्टु मनो यस्य स प्रष्टुमनाः प्रष्टुकामः, "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः। रहसि भवं रहस्यं गोप्यं न चेत् प्रतिवक्तुम् अर्हसि॥ ४०॥

टि०—तपोधने—तप एव धनं यस्याः सा (बहु०) तपोधना, 'जिसका धन उसकी तपस्या ही है', तत्सम्बुद्धौ। द्विजातिभावात्—द्वे जाती यस्य स द्विजातिः (बहु०) तस्य भावः तस्मात्, 'ब्राह्मणत्व के नाते'; 'जाति' शब्द का अर्थ 'जन्म' है। पहली तीन जातियाँ द्विजाति कहलाती हैं, क्योंकि उनके दो जन्म होते हैं, एक तो माता-पिता द्वारा और दूसरा गुरु से।

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

यहाँ 'द्विजाति' का अर्थ है ब्राह्मण; क्योंकि शिव ने ब्राह्मण का वेश धारण कर रखा था और 'उपपन्नचापलः' समास भी ब्राह्मण की ओर विशेष रूप से संकेत करता है, ब्राह्मण स्वभाव से जिज्ञासु होता है। उपपन्न-चापलः—उपपन्नं चापलं यस्य सः (बहु०), 'वह जिसमें चपलता सुलभ होती है।' 'चापल' शब्द प्रश्नात्मक भाव को सूचित करता है, क्योंकि वह ब्राह्मण होने के नाते इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के वश में था। बहु-क्षमाम्—बही क्षमा यस्यां सा बहुक्षमा (बहु०),

'अत्यन्त क्षमाशील', ताम् । उसके प्रश्न करने का यह एक और भी कारण है । प्रष्टुमनाः—प्रष्टुं मनो यस्य सः; प्रष्टुम्—√प्रच्छ् +तुमुन् । काम और मनस् के पहले तुमुन् के पञ्चम का लोप हो जाता है । (लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि) । न चेद्रहस्यम्—इससे शिव की विनय प्रकट होती है ।

हिन्दी—हे तपस्विनी ! अतएव (मित्रता के कारण) तुझ बहुत क्षमाशील से मैं ब्राह्मण-स्वभाव की चपलता के कारण कुछ पूछना चाहता हूँ । यदि कुछ रहस्य न हो तो तुम्हें उत्तर देना चाहिये । [४०]

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधस-
स्त्रिलोक-सौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्य - सुखं नवं वय-
स्तपःफलं स्यात् किमतः परं वद ॥ ४१ ॥

अन्वयः—प्रथमस्य वेधसः कुले प्रसूतिः, वपुः त्रिलोक-सौन्दर्यम् इव उदितम्, ऐश्वर्य-सुखम् अमृग्यम्, वयः नवम्, अतः परं किं तपःफलं स्यात् वद ।

वाच्यपरि०—...प्रसूत्या (भूयते), वपुषा त्रिलोकसौन्दर्येण··· उदितम्, ऐश्वर्यसुखेन अमृग्येण (भूयते), वयसा नवेन (भूयते), अतः परेण केन तपःफलेन भूयते, उच्यताम् ।

श०—वेधस्—ब्रह्मा, सृष्टिकर्त्ता । प्रसूति—जन्म । वपुस्—शरीर । उदित—संचित । अमृग्यम्—न ढूँढ़ने योग्य ।

मल्लि०—प्रष्टव्यमाह—कुल इति । प्रथमस्य वेधसः हिरण्यगर्भस्य । कुले अन्ववाये । प्रसूतिः उत्पत्तिः, "यज्ञार्थं हि मया सृष्टो हिमवानचलेश्वरः" इति ब्रह्मपुराणवचनात् । वपुः शरीरम् । (त्रिलोक-सौन्दर्यं) त्रयाणां लोकानां सौन्दर्यम् । इव उदितम् एकत्र समाहृतम्, ऐश्वर्य-सुखं सम्पत्सुखम् । अमृग्यम् अन्वेषणीयं न भवति, किन्तु सिद्धमेवेत्यर्थः । वयः नवं यौवनमित्यर्थः । अतः परम् अतोऽन्यत् । किं तपःफलं स्यात्, वद अस्ति चेदिति शेषः । न किञ्चित् अस्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

टि०—प्रथमस्य वेधसः—हिरण्यगर्भ का। हिरण्यगर्भ द्वारा हिमवत् पर्वत यज्ञ के लिए बनाया गया था। इस विचार की पुष्टि के लिए मल्लिनाथ ने ब्रह्मपुराण में से निम्न पङ्क्ति उद्धृत की हैः—"यज्ञार्थं हि मया सृष्टो हिमवानचलेश्वरः।" इससे पार्वती की कुलीनता सिद्ध होती है। त्रिलोक-सौन्दर्यम्—त्र्यवयवो लोकस्त्रिलोकस्तस्य सौन्दर्यम्। इस समास का विग्रह 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' इस प्रकार न होगा क्योंकि इस विग्रह से समास का रूप 'त्रिलोकी' होगा, उनका शरीर त्रिलोकी के रूप-सौन्दर्य की संचित धन-राशि का कोष बताया गया है। देखो,

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥ कुमार० १.४६

ऐश्वर्य-सुखम्—ऐश्वर्यस्य सुखम्, 'सम्पत्ति का सुख'। अमृग्यम्—न मृग्यम्, √मृग् 'ढूँढ़ना' १० आ०+यत्। पार्वती के पितृ-गृह में सब प्रकार की धन-सम्पत्ति भरी पड़ी थी, अतः उसे धन के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता न थी। काले ने इसी भाव का पद्य पार्वती-परिणय में से उद्धृत किया हैः—

जन्मान्ववाये प्रथमस्य धातुः पिता गरीयान् गिरिः सार्वभौमः।
वपुर्मनोहारि वचश्च रम्यं पदं च लोकादतिलोकमस्याः॥

नवं वयः—कालिदास ने यही शब्द रघुवंश में दोहराये हैः—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च। रघु० २.४७

शिव ने आश्चर्य का अभिनय करते हुए पार्वती से पूछा कि तुमने तपस्या का आश्रय क्यों लिया क्योंकि तुममें वह सब कुछ है, जिसके लिए लोग तप-साधन करते हैं।

हिन्दी—तुम्हारा जन्म पहले प्रजापति के वंश में हुआ है, यह शरीर मानो तीनों लोकों का संचित सौन्दर्य ही है, ऐश्वर्य का सुख तुम्हें ढूँढ़ना नहीं पड़ता, और यह यौवन, फिर बता, इससे अधिक तपस्या का फल क्या होगा? [४१]

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहा-
न्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।

विचार - मार्ग - प्रहितेन चेतसा
न दृश्यते तच्च कृशोदरि ! त्वयि ॥ ४२ ॥

अन्वयः—दुःसहात् अनिष्टादपि मनस्विनीनाम् ईदृशी प्रतिपत्तिः भवति नाम, (हे) कृशोदरि ! विचार-मार्ग-प्रहितेन चेतसा तत् च त्वयि न दृश्यते ।

वाच्यपरि०—....ईदृश्या प्रतिपत्त्या भूयते । ....पश्यामि ।

श०—दुःसह—कठिनता से सहने योग्य, असह्य । अनिष्ट—अप्रिय । मनस्विनी—मानिनी । प्रतिपत्ति—प्रवृत्ति । कृशोदरि—पतली कमर वाली । विचार-मार्ग—विचार-पथ । प्रहित—प्रेषित ।

मल्लि०—भवतीति । दुःसहात् सोढुमशक्यात् । अनिष्टात् भर्त्रादिकृतादपि मनस्विनीनां धीरस्त्रीणाम् । ईदृशी तपश्चरणलक्षणा । प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः, "प्रतिपत्तिस्तु गौरवे । प्राप्तौ प्रवृत्तौ प्रागल्भ्ये" इति केशवः । भवति नाम नामेति सम्भावनायाम् । विचार-मार्ग-प्रहितेन विचारमार्गे प्रहितेन । चेतसा चित्तेन । तत् अनिष्टं च हे कृशोदरि, त्वयि न दृश्यते । विचार्यमाणे तदपि नास्ति असम्भावितत्वादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

टि०—दुःसहात्—दुःखेन सह्यत इति तस्मात्, दुर् √सह्+खल् (ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् पा० ३. ३. १२६) । यह 'अनिष्टात्' का विशेषण है । अनिष्टात्—न इष्टम् (√इष् 'इच्छा करना' +क्त) अनिष्टं (नञ् तत्पु०), तस्मात्, 'अप्रिय कार्य अथवा वस्तु से' । मनस्विनीनाम्—प्रशस्तं मनो यासां ताः मनस्विन्यः, तासाम्; मनस्विनी—मनस् + विनिः+ ङीप् । प्रतिपत्तिः—प्रति +√ पद्+ क्तिन् । इस शब्द का प्रयोग 'प्रवृत्ति' के अर्थ में हुआ है । मल्लिनाथ ने केशव को उद्धृत किया है:—"प्रतिपत्तिस्तु गौरवे । प्राप्तौ प्रवृत्तौ प्रागल्भ्ये ।" नाम—अव्यय, इस शब्द का प्रयोग 'सम्भावना' के अर्थ में हुआ है । शिव के कहने का तात्पर्य यह है कि मनस्विनी स्त्रियाँ ऐसी कठोर तपश्चर्या का आश्रय तभी ग्रहण करती हैं जब किसी ने उनका कोई भारी अपराध किया हो । अगली दो पंक्तियों में शिव ने उसके प्रति किये गये अपराध को खोज निकालने में अपनी असमर्थता प्रकट की

है। अतएव पार्वती का ऐसी कठोर तपस्या साधने का कारण उन्हें स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि शिव सर्वज्ञ हैं और वे तपस्या का कारण समझ जाते हैं, तथापि वेश बदले रहने के कारण वे अज्ञान का अभिनय करते हैं, और विविध प्रस्तावों को प्रस्तुत करके पार्वती से ही अपने प्रति उसके मनोभावों की थाह लेने का अभिनय करते हैं। कृशोदरि—(कृश + उदर + ङीप्) कृशम् उदरं यस्याः सा कृशोदरी, सम्बोधने कृशोदरि, हे सूक्ष्म कटिवाली। 'नासिकोदरौष्ठजंघादन्तकर्णशृङ्गाच्च' (पा० ४. १. ५५.) द्वारा ङीप् विकल्प से है, अर्थात् नासिका आदि शब्द जिस बहुव्रीहि के अंत में है, वहाँ ङीप् प्रत्यय विकल्प से लगता है, अतः दूसरा रूप कृशोदरा सिद्ध होगा। विचार-मार्ग-प्रहितेन—विचारस्य मार्गः विचारमार्गः, तस्मिन् प्रहितं विचारमार्गप्रहितम्, तेन; 'अधिक विचार करने पर'। चेतसा—चित्तेन, 'मन द्वारा'। तत्—अनिष्ट।

हिन्दी—असह्य दुःख के कारण भी धीरजवाली स्त्रियों की ऐसी प्रवृत्ति होती है। हे कृशोदरि! अधिक विचार करने पर (भी) कोई दुःख तुम्हारे ऊपर आया दिखाई नहीं देता। [४२]

अलभ्य - शोकाभिभवेयमाकृति-
विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृहे।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं
*प्रसारयेत् पन्नग - रत्न - सूचये॥ ४३ ॥**

अन्वयः—(हे) सुभ्रु ! इयम् आकृतिः अलभ्यशोकाभिभवा, पितुः गृहे विमानना कुतः ? पराभिमर्शः तव न अस्ति, पन्नग-रत्न-सूचये कः करं प्रसारयेत् ?

वाच्यपरि०—इमाम् ....आकृतिम् अलभ्यशोकाभिभवां (पश्यामि), ...विमाननया (भूयते), ...पराभिमर्शेन.... (भूयते), ... केन करः.... प्रसार्येत।

श०—आकृति—मूर्ति। अभिभव—तिरस्कार। विमानना—तिरस्कार, अपमान। अभिमर्श—स्पर्श, बलात्कार। पन्नग—साँप। रत्नसूचि—(सर्प-) मणि की नोक। प्रसारयेत्—फैलाये।

मल्लि०—अनिष्टाभावमेव प्रपञ्चयति—अलभ्येति। हे सुभ्रु! इयं त्वदीया आकृतिः मूर्तिः। (अलभ्यशोकाभिभवा) अलभ्यः लब्धुमनर्हः शोकेन भर्त्राद्यवमानजेन दुःखेन अभिभवः तिरस्कारो यस्याः सा तथोक्ता दृश्यते इति शेषः; असम्भावितश्चायमर्थ इत्याह—पितुर्गृहे विमानना अवमानः कुतः? न सम्भाव्यत एवेत्यर्थः। न चाप्यन्यस्माद्भावीत्याह—पराभिमर्शः परधर्षणं तु तव न अस्ति। पन्नग-रत्न-सूचये फणिशिरोमणिशलाकां ग्रहीतुमित्यर्थः। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः इति चतुर्थी। करं हस्तं कः प्रसारयेत्। सुभ्रु इत्यत्र भ्रू शब्दस्यावङ्स्थानीयत्वात् 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" इति नदीसंज्ञाप्रतिषेधात् "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वं नास्ति, तेन ह्रस्वः प्रामादिक इति केचित्। अन्ये तु 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' इत्यत्र अलाबूः कर्कन्धूरित्यूकारान्तादप्यूङ्-प्रत्ययमुदाजहार भाष्यकारः। एतस्मादेव नियमज्ञापकात् क्वचिदूकारान्तस्याप्यूङन्तत्वान्नदीत्वे ह्रस्वत्वमित्याहुः। अत एवमाह वामनः—"ऊकारान्तादप्यूङ् प्रकृतेः" इति। सुभ्रू! कुतस्तातगृहेऽवमाननम्' इति पाठान्तरकरणं तु साहसमेवोक्तोपपत्तिसम्भवात्। अन्यत्रापि "सुभ्रु, त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषिताम्" इत्यादिप्रयोगदर्शनाद् वंशस्थवृत्ते पादादौ जगणभङ्गप्रसङ्गाच्चेत्यलं गोष्ठीभिः॥ ४३॥

टि०—अलभ्यशोकाभिभवा—अलभ्यः शोकेन अभिभवः यस्याः सा (बहु०), 'जो तिरस्कार के शोक को कभी सहन नहीं कर सकती'; अलभ्य—न लभ्यः अलभ्यः (नञ् तत्पु०); लभ्य—√ लभ् + यत्। यह प्रायः कहा जाता है कि सुन्दर आकृतियों को शोक प्राप्त नहीं होता। मल्लिनाथ ने इसमें पति द्वारा तिरस्कार भी गिन लिया है परन्तु पार्वती अविवाहिता थी, इसलिए इसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती। सुभ्रु—शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रू (बहु०), सम्बोधन। ऊ का सुभ्रु में ह्रस्व होना पाणिनि के विरुद्ध है; क्योंकि यह नदीसंज्ञक नहीं है, और इसने उवङ् प्रत्यय लिया है (नेयङुवङ्स्थानावस्त्री पा० १.४.४), अतः यह अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (पा० ७.३.१०७) सूत्र के अधीन नहीं आता। देखो, भट्टोजिः—"कथं तर्हि हा पितः क्वासि हे सुभ्रु!" इति

भक्तिः। प्रमाद एवायमिति बहवः।" इस रूप की पुष्टि में कुछ कहना है। क्योंकि भाष्यकार ने "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्" पर अपने भाष्य में अलाबू, कर्कन्धू का उदाहरण दिया है, इससे स्पष्ट है कि कभी-कभी ऊकारान्त शब्द भी ऊङ् प्रत्यय ग्रहण करते हैं और नदीसंज्ञक कहलाते हैं। देखो, वामन 'ऊकारादप्यूङ् प्रकृतेः'। इस प्रकार सुभ्रु को उवङ् के बदले ऊङ् जोड़े जाने पर नदी-संज्ञा (नेयङुवङ्स्थानावस्त्री पा० १. ४. ४) का निषेध लागू न होगा और यह अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (पा० ७. ३. १०७) का उचित उदाहरण होगा। मल्लिनाथ ने निम्न उद्धरण दिया है जिसमें सुभ्रूः के बदले सुभ्रु पाठ लिया है:—

सुभ्रु, त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषिताम्।

पराभिमर्शः—परेण अभिमर्शः, दूसरे से स्पर्श किया जाना। अभिमर्श—अभि + √ मृश् + घञ्। पन्नग-रत्न-सूचये —रत्नस्य सूचिः रत्नसूचिः, पन्नगस्य रत्नसूचिः पन्नगरत्नसूचिः तस्यै, पन्नगरत्नसूचिं ग्रहीतुमित्यर्थः, 'साँप की मणि का अग्र-भाग पाने के लिए'; यहाँ चतुर्थी का प्रयोग किया गया है। देखो, क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिनः पा० २. ३. १४। यह एक पुरानी धारणा है कि साँपों की एक विशेष जाति होती है जो चमकीली मणि को अपने फण में धारण किये रहती है। वासुकि शब्द भी, जिसका पर्याय साँप है, वास्तव में यही भाव प्रकट करता है। वसूनि (रत्नानि) के (मूर्धनि) यस्य सः वसुकः, तस्यापत्यम्। देखो,

ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि।
स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजङ्गाः पर्युपासते ॥ कुमार० २. ३८

पार्वती का शरीर स्पर्श करने में ऐसा भयानक है जैसा साँप के फण की मणि का छूना। अतः इसमें बलात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी—हे सुन्दरि! यह तुम्हारा शरीर दुःख द्वारा तिरस्कार प्राप्त करने के योग्य नहीं; पिता के घर में तुम्हें भला अपमान कहाँ से (हो सकता है)? पर-पुरुष द्वारा अपमान तुम्हारा हो नहीं सकता। सर्प-मणि की नोक को प्राप्त करने के लिए कौन भला हाथ पसारता है? [४३]

किमित्यपास्याऽऽभरणानि यौवने
धृतं त्वया वार्द्धक-शोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुट-चन्द्र-तारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(गौरि !) किमिति यौवने त्वया आभरणानि अपास्य वार्द्धक-शोभि वल्कलं धृतम् ? प्रदोषे स्फुट-चन्द्र-तारका विभावरी अरुणाय कल्पते यदि (किं) वद ।

वाच्यपरि०—.....त्वं.....धृतवती ।.....स्फुटचन्द्रतारका विभावर्या..... कल्प्यते,.....उद्यताम् ।

श०—आभरण—आभूषण । अपास्य—त्याग कर । वार्द्धक—बुढ़ापा । विभावरी—रात्रि । प्रदोष—रात्रि का पहला पहर । अरुण—उषाकाल । सूर्य—सारथि ।

मल्लि०—किमिति । हे गौरि ! किमिति ? केन हेतुना यौवने त्वया आभरणानि अपास्य विहाय । वृद्धस्य भावो वार्द्धकम् "मनोज्ञादित्वाद्" वुञ् प्रत्ययः, "वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि" इति विश्वः; तत्र शोभत इति वार्द्धकशोभि वल्कलं धृतम् । प्रदोषे रजनीमुखे । स्फुटाः प्रकटाश्चन्द्र-तारकाश्च यस्याः सा स्फुट-चन्द्र-तारका । विभावरी रात्रिः । अरुणाय सूर्य-सूताय कल्पते यदि ? अरुणं गन्तुं कल्पते किम् ? वद ब्रूहि । "क्रियार्थोप-पदस्य" इत्यादिना चतुर्थी । दीप्यमानशशाङ्कतारके प्रदोषे यद्यरुण उदेति ततो विभूषणापहारेण तव वल्कलधारणं सङ्गच्छत इति भावः ॥ ४४ ॥

टि०—अपास्य—अप+√अस् ४ पर० 'फेंकना'+ क्त (=ल्यप्) । वार्द्धक-शोभि—वार्द्धके शोभते इति (तत्पु०); वार्द्धकं+√ शुभ् + णिनि । यह 'वल्कलम्' का विशेषण है । वार्द्धक—वृद्धस्य भावः, 'बुढ़ापा' । यह शब्द मनोज्ञादि वर्ग में सम्मिलित करने से बना है । वृद्ध को वुञ् जोड़ा जाता है । (द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च पा० ५. १. १३३) । वुञ् के बदले अक हो गया है । (युवोरनाकौ पा० ७. १. १) । शिव ने पार्वती से यह कहा कि तुमने जो वल्कल धारण कर रखे हैं वह बुढ़ापे के लिए उपयुक्त हैं न कि इस भरे यौवन के लिए । देखो,

काममनुरूपमस्या वयसो वल्कलम्' शाकु०

स्फुट-चन्द्र-तारका—स्फुटाः चन्द्रः तारकाश्च यस्यां सा (बहु०), चमकते चन्द्रमा और ताराओं से युक्त । प्रदोषे—रात के पहले पहर में; (देखो, प्रदोषो रजनीमुखम्) । अरुणाय—उषाकाल के लिए । अरुण—अरुण कश्यप और विनता का पुत्र तथा गरुड़ का भाई था । वह सूर्य का सारथि कहा जाता है । यहाँ यह शब्द उषा के लिए प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए देखो टि० पृष्ठ ३६ । रात्रि का आरम्भ होते समय जब चन्द्रमा तथा तारागण चमकते हैं तब रात्रि यह कभी विचार नहीं करती कि उषाकाल आयेगा । यहाँ पार्वती अपने यौवन में रात्रि के प्रथम पहर के सदृश मानी गई है, उसके आभूषण चन्द्रमा और तारे तथा उसके वल्कल वस्त्र भूरे रंग के होने के कारण उषा के-से माने गये हैं । इस अन्तर द्वारा शिव ने पार्वती के आचरण की अस्वाभाविकता प्रकट की है ।

हिन्दी—हे गौरि ! क्या कारण है कि तुमने यौवन-काल में आभूषण त्याग कर बुढ़ापे में शोभा देनेवाले वल्कल (वृक्ष-छाल के वस्त्र) धारण किये हैं ? कहो, पहले पहर की चाँद और तारों भरी रात प्रातःकाल के उषाकाल को प्राप्त करने के लिए कैसे उपयुक्त हो सकती है ? [४४]

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः
पितुः प्रदेशास्तव देव-भूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दिवं प्रार्थयसे यदि श्रमः वृथा, तव पितुः प्रदेशाः देव-भूमयः; अथ उपयन्तारं (यदि प्रार्थयसे तदा) समाधिना अलम् । (यस्मात्) रत्नं न अन्विष्यति, तत् हि मृग्यते ।

वाच्यपरि०—द्यौः प्रार्थ्यते, श्रमेण (भूयते) प्रदेशैः देवभूमिभिः (भूयते) उपयन्ता (प्रार्थ्यते) । रत्नेन···अन्विष्यते, तत् मृगयन्ति ।

श०—प्रार्थयसे—तुम इच्छा करती हो । श्रम—प्रयत्न, तपस्या ।

उपयन्तृ—पति। अन्विष्यति—ढूँढ़ता है। मृग्यते—ढूँढ़ा जाता है।

मल्लि०—तपःप्रयोजनं निराकर्त्तुमाह—दिवमिति। दिवं स्वर्गम्। प्रार्थयसे कामयसे। यदि तर्हि श्रमः तपश्चरणप्रयासः। वृथा निष्फलः। यदि स्वर्गार्थं तप्यसे ततः श्रमं मा कार्षीः। कुतः? तव पितुः हिमवतः प्रदेशा देव-भूमयः स्वर्गपदार्थाः, तत्रत्या इत्यर्थः। अथ उपयन्तारं वरं प्रार्थयसे, तर्हि समाधिना तपसा अलम्। न कर्त्तव्यमित्यर्थः। निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया। तथाहि—रत्नं कर्तृ, न अन्विष्यति मृगयते, ग्रहीतारम् इति शेषः, किन्तु तत् रत्नं मृग्यते ग्रहीतृभिः इति शेषः। न हि वृथा त्वया तपसि वर्त्तितव्यम्, किन्तु तेनैव त्वदर्थमिति भावः॥ ४५॥

टि०—प्रार्थयसे—तुम इच्छा करती हो। श्रमः—प्रयत्न, पार्वती द्वारा आरम्भ की गई कठोर तपस्या का मार्ग। इसका अर्थ तपस्या भी है। देखो, 'अभ्यासे शास्त्रविद्यादौ वेदे तपसि च श्रमः' भोज। शिव ने बताया कि तुम्हारी तपस्या यदि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए है तो वह वृथा है क्योंकि तुम्हारे पिता के प्रदेश स्वर्ग-सदृश ही हैं। उपयन्तारम्—पति को; उप उपसर्ग के साथ √यम् 'निग्रह करना' का अर्थ बदल जाता है। समाधिना अलम्—समाधि रोका गया कर्म है और निषेध का निमित्त है। अतः यहाँ तृतीया का प्रयोग हुआ है। (हेतौ पा २. ३. २३)। देखो, 'निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात्तृतीया' मल्लि०। 'अलं समाधिना' का विग्रह इस प्रकार होगा 'समाधिना साध्यं ...स्ति'। इस निषेधात्मक 'अलम्' का अन्तर उस 'अलम्' से, जिसका अर्थ पर्याप्त है और जिसके लिए चतुर्थी विभक्ति लगती है (नमः स्वस्तिस्वाहाऽलंवषड्योगाच्च पा० २. ३. १६), ध्यान में रखना होगा। शिव के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि तुम पति की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रही हो तो यह वृथा है। "न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।" रत्न ढूँढ़ता नहीं, ढूँढ़ा जाता है। क्योंकि पार्वती गुणवती तथा रूपवती थी, अतः उसे पति के ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता न थी।

हिन्दी—यदि तुम स्वर्ग की इच्छा करती हो तो तुम्हारी तपस्या व्यर्थ है। तुम्हारे पिता के स्थान देवताओं के वास-स्थान हैं। यदि

तुम भर्त्ता की इच्छा करती हो तो तपस्या न करो। रत्न ढूँढ़ता नहीं (परन्तु) ढूँढ़ा जाता है। [४५]

निवेदितं निश्वसितेन सोष्मणा
मनस्तु मे संशयमेव गाहते।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते
भविष्यति प्रार्थित-दुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सोष्मणा निश्वसितेन निवेदितं (तथाऽपि) मे मनः संशयम् एव गाहते, ते प्रार्थयितव्यः एव न दृश्यते प्रार्थित-दुर्लभः कथं भविष्यति ?

वाच्यपरि०—सोष्म निश्वसितं निवेदिवत्, ... मनसा ....संशयो ....गाह्यते, ...प्रार्थयितव्यं ....न पश्यामि, ...दुर्लभेन कथं भविष्यते ?

मल्लि०—वरवाचकाद्दरश्रवणानन्तरमेव देव्या उष्णोच्छ्वासमालक्ष्य प्रश्नेषु च प्रत्युत्तरमनुपलभ्य स्वयमेवाऽऽशङ्क्याऽऽह—निवेदितमिति। सोष्मणा निश्वसितेन निश्वासवायुना। निवेदितं चिन्तानुभावेन उष्णोच्छ्वासेन ते वरार्थित्वं सूचितमित्यर्थः। तर्हि किं प्रश्नव्यसनेन इत्याह—मे मनः तथाऽपि मे संशयमेव गाहते प्राप्नोति। कुतः ? ते तव, "कृत्यानां कर्तरि वा" इति षष्ठी। प्रार्थयितुमर्हः एव न दृश्यते। प्रार्थित-दुर्लभः प्रार्थितो यो दुर्लभः सः। कथं भविष्यति नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

श०—ऊष्मन्—गरमी। निश्वसित—साँस। निवेदित—सूचित। गाहते—पाता है। प्रार्थयितव्य—तुम्हारी इच्छा के योग्य व्यक्ति।

टि०—सोष्मणा—ऊष्मणा सह वर्तत इति सोष्म (बहु०), 'गरमी से भरा', तेन सोष्मणा। सह 'निश्वसितेन' का विशेषण है। गरम साँस प्रेम में डूबे हृदय के सूचक हैं। यद्यपि शिव ने पार्वती की तपस्या का कारण समझ लिया था, तथापि उनका अनुमान निश्चयात्मक न था। मनस्तु मे संशयमेव गाहते—'मेरा मन संदेह में डूबा है,' यह कहने का मुहावरेदार ढंग है। चाहे कारण (अर्थात् गरम साँस) स्पष्ट है तब भी परिणाम (अर्थात् योग्य पति की प्राप्ति के लिए पार्वती की तपस्या करना) स्पष्ट नहीं। शिव ने अपने संदेह का कारण स्पष्ट किया है।

प्रार्थयितव्यः—प्र+√अर्थ्+णिच्+तव्य, तुम्हारी इच्छा के योग्य व्यक्ति। अभिलषित व्यक्ति की अनुपस्थिति में तुम्हारी तपस्या का कोई और लक्ष्य प्रतीत होता है। प्रार्थित-दुर्लभः—प्रार्थितश्चासौ दुर्लभश्चेति (कर्म०), प्रार्थना किये जाने पर दुर्लभ। यह द कारण इस अनुमान के विरुद्ध जाते हैं कि तुम्हारे गरम साँस योग्य पति की प्राप्ति के लिए निकलते हैं।

हिन्दी—(यद्यपि) उष्ण श्वास से तुमने सूचित कर दिया है, तब भी मेरे मन में सन्देह ही उठता है। तुमसे प्रार्थना किये जाने योग्य (वर) हो नहीं दीखता, (और) प्रार्थना किया हुआ वह दुर्लभ कैसे होगा (अर्थात् नहीं होगा, अवश्य वह तुम्हारे सामने आयेगा) ? [४६]

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा
चिराय कर्णोत्पल-शून्यता गते।
उपेक्षते यः श्लथ-लम्बिनीर्जटाः
कपोल - देशे कलमाग्र - पिङ्गलाः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अहो तव ईप्सितः युवा कः अपि स्थिरः यः चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते कपोलदेशे श्लथलम्बिनी; कलमाग्रपिङ्गलाः जटाः उपेक्षते।

वाच्यपरि०—....ईप्सितेन यूना केनापि स्थिरेण (भूयते) येन ....श्लथलम्बिन्यः ....उपेक्ष्यन्ते।

श०—ईप्सित—अभीष्ट। स्थिर—कठोर। चिराय—देर से। कर्णोत्पल—कान के लिए कमल। शून्यता—अभाव। श्लथ—ढीली। कलम—धान। अग्र—नोक। पिङ्गल—भूरा रङ्ग।

मल्लि०—अथ पतिप्रार्थनामेव सिद्धवत् कृत्वा आह—अहो इति। अहो चित्रम्। तव ईप्सितः आप्तुमिष्टः। युवा कोऽपि स्थिरः कठिनः वर्तते इति शेषः। कुतः ? यः युवा चिराय चिरात्प्रभृति कर्णोत्पल-शून्यतां गते प्राप्ते कपोल-देशे गण्डस्थले। श्लथाः शिथिलबन्धना अत एव लम्बिन्यस्ताः श्लथ-लम्बिनीः। (कलमाग्र-पिङ्गलाः) कलमाः शालि-विशेषास्तेषामग्राणि तद्वत्पिङ्गलाः। जटाः उपेक्षते। यस्त्वामीदृशीं दृष्ट्वा न व्यथते स नूनं वज्रहृदय इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

टि०—ईप्सित—इस शब्द की व्युत्पत्ति के लिये देखो पृष्ठ ३२। क्तान्त होने पर भी ईप्सित का यहाँ प्रयोग वर्त्तमान काल के अर्थ में हुआ है। अतएव युष्मद् की षष्ठी (तव) का इसके साथ प्रयोग हुआ है। (क्तस्य च वर्त्तमाने पा० २. ३. ६७)। स्थिरः—कठोर, जो तुम्हारी कठिन तपस्या से भी अविचलित है। चिराय—अव्यय। कर्णोत्पल-शून्यताम्—कर्णालङ्कारभूतम् उत्पलं कर्णोत्पलम् (मध्यमपदलोपितत्पु०), तेन शून्यः कर्णोत्पलशून्यः, तस्य भावः कर्णोत्पलशून्यता, ताम्, 'कान से कमल-फूल के रहित होने के अभाव को'। तपोवन में कन्यायें प्रायः अपने कानों में कमल-फूल पहना करती थीं। पार्वती ने भी ऐसा ही किया। परन्तु जब से उसने तपस्विनी बनकर कठोर तप का आरम्भ किया तब से उसने कान में कमल-फूल पहनना छोड़ दिया था। 'कर्णोत्पलशून्यतां गते' कपोलदेशे का विशेषण है। कपोल-देशे—गालों पर। श्लथल-म्बिनीः—श्लथाश्च ताः लम्बिन्यश्चेति ताः (कर्म०), ढीली-ढीली लटक रही। उसकी लटायें कंघा न किये जाने के कारण उलझ जाने से जटाओं का रूप धारण कर गई थीं और उसके गालों पर, लटक रही थीं। कुछ लोग यहाँ यह पाठ पढ़ते हैं:—श्लथबन्धिनी—श्लथः बन्धो यासां ताः श्लथबन्धिन्यः ताः। कलमाग्र-पिङ्गलाः—कलमानाम् अग्राणि कलमाग्राणि, 'धान की नोकों के सदृश भूरे रंगवाली'। कलम—धान। तुलना करोः—

शालयः कलमाद्यश्च षष्टिकाद्याश्च। अमर
शालिस्तु गन्धोलौ कलममादिषु। हैम

उपेक्षते—√ईक्ष् 'देखना' यदि उप उपसर्ग सहित हो तो इसका अर्थ हो जाता है 'लापरवाह होना'; शिव के कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा अभिलषित युवक पाषाण-हृदय अथवा अनुराग-रहित होगा ज तुम्हारी ऐसी शोचनीय अवस्था हो जाने पर भी चलायमान नहीं हुआ।

हिन्दी—अहो! तुम्हारा अभिलषित युवक अवश्य कठोर है, जो चिरकाल से कानों के कमलों से रहित गालों पर धान के अग्र-भाग के सदृश भूरी रंगवाली ढीली लटक रही जटाओं की उपेक्षा करता है।

[४७'

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्र - कर्शितां
दिवाकराप्लुष्ट -विभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्क-लेखामिव पश्यतो दिवः
सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥४८॥

अन्वयः—मुनिव्रतैः अतिमात्र-कर्शिता दिवाकराप्लुष्ट-विभूषणास्पदां दिवा शशाङ्क-लेखाम् इव त्वां पश्यतः सचेतसः कस्य मनः न दूयते ?

वाच्यपरि०—...कस्य मनसा न दूयते ?

श०—मुनिव्रत—मुनियों का तपोव्रत । अतिमात्र—अत्यन्त । कर्शित—क्षीण । दिवाकर—सूर्य । आप्लुष्ट—झुलसा हुआ । विभूषण—आभूषण । आस्पद—स्थान । शशाङ्क—चन्द्र । लेखा—रेखा । दिवा—दिन के समय में । दूयते—पीड़ित होता है ।

मल्लि०—मुनिव्रतैरिति । मुनिव्रतैः चान्द्रायणादिभिः (अतिमात्र-कर्शिताम्) अतिमात्रमत्यन्तं कर्शिताम् । (दिवाकराप्लुष्ट-विभूषणास्पदाम्) दिवाकरेण सूर्येणाप्लुष्टानि दग्धानि वातातपसंस्पर्शान्मृदुत्वाच्च श्यामीकृतानि विभूषणास्पदानि भूषणस्थानानि यस्यास्तां तथोक्ताम् । अत एव दिवा अहनि शशाङ्क-लेखामिव स्थितां त्वां पश्यतः सचेतसः जीवतः । कस्य पुंसः मनः न दूयते न परितप्यते ? अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

टि०—मुनिव्रतैः—इससे चान्द्रायण व्रत आदि की ओर संकेत है जिससे शरीर बहुत क्षीण हो जाता है और अन्त में आध्यात्मिक उन्नति होती है तथा विषय-वासना का दमन । अतिमात्र-कर्शिताम्—अतिमात्रं कर्शिताम्, अत्यन्त क्षीण को; अतिमात्र—अतिक्रान्ता मात्रा यस्मिन् कर्मणि तदतिमात्रम् (अव्ययी०), अत्यन्त । दिवाकराप्लुष्ट-विभूषणास्पदाम्—दिवाकरेण आप्लुष्टानि विभूषणानाम् आस्पदानि यस्याः (बहु०) ताम्, 'उसे जिसके आभूषण पहनने के स्थान सूर्य से झुलस गये थे ।' इससे प्रकट होता है कि पार्वती का शरीर सूर्य की जलती किरणों से झुलस गया था । दिवाकर—दिवा करोतीति, दिवा + √ कृ (दिवाविभानिशा० पा० ३. २. २१) +ट, सूर्य; आप्लुष्ट—आ + √प्लुष् १, ४, ६, पर० 'जलाना' + क्त, दग्ध । शशाङ्क-लेखाम्—जैसे चन्द्रकला बहुत पतली

होती है और दिन के प्रकाश से पीली पड़ जाती है, वैसे ही पार्वती की देह दुबली होकर सूर्य की गरमी से झुलस गई है। सचेतसः—चेतसा सह वर्तत इति सचेताः; तस्य, 'भावनायुक्त, सहृदय'। कुछ लोग 'सचेतः' का अनुवाद 'जीवित पुरुष' करते हैं। ऐसा अनुवाद करने से शब्द व्यर्थ हो जाता है क्योंकि केवल जीवित पुरुष ही तो पीड़ा आदि अनुभव करने की शक्ति रखते हैं। दूयते—√दू 'पीड़ित होना'+लट् प्रथम पु०।

हिन्दी—जो पार्वती (चान्द्रायण आदि) मुनि-व्रतों से अत्यन्त क्षीण (दुबली) हो गई है और जिसके आभूषणों के स्थान सूर्य की किरणों से श्यामल पड़ गये हैं, उसे, दिन में चन्द्रकला के समान, देखकर किस सहृदय का मन दुखी नहीं होता ? [४८]

अवैमि सौभाग्य-मदेन वञ्चितं
तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो-
न वक्त्रमात्मीयमराल - पक्ष्मणः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—...प्रियं सौभाग्य-मदेन वञ्चितम् अवैमि यः चतुरावलोकिनः अराल-पक्ष्मणः अस्य चक्षुषः आत्मीयं वक्त्रं चिरं लक्ष्यं न करोति।

वाच्यपरि०—तव प्रियः....वञ्चितः अवेयते; येन....क्रियते।

श०—प्रिय—प्रेमी। सौभाग्य—सौन्दर्य। मद—गर्व। वञ्चित—ठगा गया। अवैमि—जानता हूँ। आत्मीय—अपना। वक्त्र—मुख। चतुर—सुन्दर। अवलोक—दृष्टिपात। अराल—तिरछा, टेढ़ा। पक्ष्म—पलक। लक्ष्य—निशाना, विषय।

मल्लि०—अवैमीति। तव प्रियं वल्लभम्। सौभाग्य-मदेन सौन्दर्य-गर्वेण। कर्त्रा। वञ्चितं विप्रलब्धम्। अवैमि वेद्मि। यः प्रियश्चतुरं मधुरमवलोकत इति चतुरावलोकिनः अराल-पक्ष्मणः कुटिलरोम्णः "अरालं वृजिनं जिह्मम्" इत्यमरः। अस्य त्वदीयस्य। चक्षुषः आत्मीयं वक्त्रं मुखं चिरं लक्ष्यं विषयं न करोति दृष्टिपथं न गच्छतीत्यर्थः। तदयं गर्वेण हतो निष्फलात्मलोभी जात इति भावः॥ ४९॥

टि०—सौभाग्य-मदेन—सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, सौभाग्यस्य मदः

तेन (तत्पु०),सौन्दर्य के गर्व द्वारा। सौभाग्य शब्द की रचना के लिए देखो पृष्ठ २६। यह बात कि पार्वती किसी सुन्दर युवक की इच्छा करती है, केवल शिव की कोरी कल्पना है, और कदाचित् इसलिए वे पार्वती की अवहेलना करते हैं। वञ्चित—यदि सौन्दर्य का गर्व ही एकमात्र कारण है तो वह व्यक्ति सचमुच ठगा गया है क्योंकि उसके गर्व ने उसे पार्वती की आँखों के तिरछे पलक और सुन्दर दृष्टिपात के देखने से वञ्चित रखा है। अवैमि—अव+√इ 'जाना' का अर्थ अव उपसर्ग सहित है 'जानना'। आत्मीयम्—आत्मनः इयम् ,आत्मन्+छ (इय)। चतुरावलोकिनः—चतुरः +अव + √लोक + णिनि; चतुरम् अवलोकत इति चतुरावलोकी, तस्य (तत्पु०), सुन्दर दृष्टिपातवाली। अराल-पक्ष्मणः—अरालानि पक्ष्माणि यस्य तत् अरालपक्ष्म तस्य (बहु०), तिरछे पलकोंवाली।

हिन्दी—मैं समझता हूँ कि तुम्हारा प्रिय अपने सौन्दर्य के गर्व से ठग लिया गया है जो मधुर दृष्टिपात और तिरछी पलकोंवाली तुम्हारी आँखों के सामने चिरकाल से अपना मुख नहीं करता।[४६]

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि ! विद्यते
ममापि पूर्वाश्रम-सञ्चितं तपः।
तदर्ध-भागेन लभस्व काङ्क्षितं
वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—(हे) गौरि ! कियत् चिरं श्राम्यसि ? मम अपि पूर्वाश्रम-सञ्चितं तपः विद्यते (अस्ति) तदर्ध-भागेन काङ्क्षितं वरं लभस्व। (अहं) तं साधु वेदितुम् इच्छामि च।

वाच्यपरि०—····श्रम्यते, ····पूर्वाश्रमसञ्चितेन तपसा विद्यते, ····काङ्क्षितः····लभ्यताम् ,····इष्यते।

श०—श्राम्यसि—परिश्रम (अर्थात् तपस्या) करोगी। पूर्वाश्रम—प्रथमाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम। सञ्चित—इकट्ठा किया हुआ। अर्ध-भाग—आधा हिस्सा। काङ्क्षित—इच्छा। वर—पति।

मल्लि०—कियदिति। हे गौरि ! कियत् किं प्रमाणकं किमवधिकमित्यर्थः। चिरं श्राम्यसि तपस्यसि ? अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ममापि(पूर्वाश्रम-

सञ्चितं पूर्वाश्रमः प्रथमाश्रमः ब्रह्मचर्याश्रमः तत्र सञ्चितं सम्पादितं तपः विद्यते। (तदर्धभागेन) अर्धश्चासौ भागश्च तेन तस्य तपसः अर्धभागेन एकदेशेन काङ्क्षितं इष्टं वरम् उपयन्तारं लभस्व। तं वरं साधु सम्यक् वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि च। यद्यसौ योग्यो भवति तदा ममापि सम्मतिरिति भावः॥ ५०॥

टि०—कियच्चिरम्—कितनी देर; यहाँ द्वितीया विभक्ति लगी है क्योंकि अकर्मक श्रम् 'थकना' का सम्बन्ध 'चिर' से है जो समय की अवधि बताता है (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे पा० २. ३. ५)। पूर्वाश्रमसञ्चितम्—पूर्वश्चासौ आश्रमः पूर्वाश्रमः (कर्म०), तस्मिन् सञ्चितम् (तत्पु०), प्रथम आश्रम में इकट्ठा किया हुआ। प्रथमाश्रम—इससे ब्रह्मचर्य आश्रम की ओर संकेत है और वक्ता की विवाहित अवस्था सूचित की गई है। तदर्ध-भागेन—अर्धश्चासौ भाग इत्यर्धभागः (कर्म०), तस्य अर्धभागः तदर्धभागः, तेन, (तपस्या के) आधे हिस्से से। इसीलिए शिव को अर्धनारीश्वर कहा है। काङ्क्षितम्—√काङ्क्ष् 'इच्छा करना'+क्त। देखो,

किमाकाङ्क्षसि सुश्रोणि ! कथयस्व ममाग्रतः।
कुतूहलेन शुश्रूषुरहं तव नगेन्द्रजे॥ शिवपुराण

कुछ लोग कहते हैं कि 'तप' शब्द 'शरीर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और 'पूर्वाश्रमसञ्चितम्' से उस देह की ओर संकेत है जो सृष्टि के आरम्भ में बिना किसी थकान के रची गई थी। इस प्रकार शिव के कहने का तात्पर्य हुआ कि वे अपना आधा शरीर पार्वती को दे सकते हैं। परन्तु यह भाव दूर की खैंचातानी से लिया गया जान पड़ता है।

हिन्दी—हे गौरि ! कितने समय तक तुम तपस्या करोगी ? मेरा भी पहले आश्रम में (अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में) एकत्र किया तप है, उसके आधे भाग से तुम अपने अभिलषित वर को प्राप्त हो, परन्तु उसे मैं अच्छी तरह जानना चाहता हूँ। [५०]

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना
मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।

अथो वयस्यां परिपार्श्व - वर्तिनीं
विवर्तितानञ्जन - नेत्रमैक्षत ॥ ५१ ॥

अन्वयः—इति द्वि-जन्मना प्रविश्य अभिहिता सा मनोगतं शंसितुं न शशाक, अथो परिपार्श्व-वर्तिनीं वयस्यां विवर्तितानञ्जन-नेत्रम् ऐक्षत ।

वाच्यपरि०—""अभिहितया तया मनोगतः""शेके,""परिपार्श्व-वर्तिनी वयस्या""ऐक्ष्यत ।

श०—द्विजन्मन्—ब्राह्मण । प्रविश्य—प्रवेश करके। अभिहिता—कही गई । मनोगत—हृदयवर्ती । शंसितुम्—कहने के लिए । वयस्या—सखी । परिपार्श्व-वर्तिनी—अत्यन्त पास बैठी हुई । विवर्तित—घुमाई गई (आँख) । अनञ्जन—अंजन रहित । ऐक्षत—देखा ।

मल्लि०—इतीति । इति इत्थम् । द्विजन्मना द्विजेन प्रविश्य अन्तर्गत्वा आप्तवद्रहस्यमुद्घाट्येत्यर्थः । अभिहिता उक्ता सा पार्वती मनोगतं हृदिस्थं वरं शंसितुं वक्तुं न शशाक समर्था न अभूत्, लज्जयेति शेषः। अथो अनन्तरं परिपार्श्व-वर्तिनीं वयस्यां सखीं विवर्तितानञ्जन-नेत्रं विवर्तितं विचालितम् अनञ्जनं व्रतवशाद् वर्जितकज्जलं नेत्रं यस्मिन् कर्मणि तत् तथा । ऐक्षत नेत्रसंज्ञया एव प्रत्युत्तरं वाचयाञ्चकार इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

टि०—द्वि-जन्मना—द्वे जन्मनी यस्य स द्विजन्मा, तेन, 'ब्राह्मण द्वारा' । ब्राह्मण इसलिए ऐसा पुकारा जाता है क्योंकि वह क्षत्रिय तथा वैश्यों के समान दो जन्म पाता है । एक तो अपने माता-पिता द्वारा और दूसरा अपने गुरु से दीक्षा के रूप में । देखो,

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥ मनु०

प्रविश्य—प्र+√विश्+क्त्वा (ल्यप्), (उसके हृदय में) प्रवेश करके । अभिहिता—अभि+√धा+क्त; √धा यहाँ 'हि' में बदल गया है । (दधातेर्हिः पा० ७. ४. ४२) । √धा का अर्थ है 'धारण करना' किन्तु जब 'अभि' उपसर्ग जुड़ा हो तो अर्थ होगा 'कहना' । मनोगतम्—मनः गतम् (तत्पु०), 'मानसिक इच्छा'; गत के साथ द्वितीया विभक्ति लगती है। (द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः पा० २. १. २४) ।

शशाक—✓शक् 'कर सकना' लिट् प्रथम पु० एक०; पार्वती लज्जाशील कन्या होने के कारण शिव से स्वयं अपने मन की बात कह न सकी थी।

एषा गिरिसुता विप्र! सती कमललोचना।
वाचं परस्य साक्षान्नो ददाति भवसेविनी॥ शिवपुराण

वयस्याम्—वयसा तुल्या वयस्या, 'आयु में समान', ताम्; वयस्+यत् (नौवयोधर्म० पा० ४. ४. ९१)। परिपार्श्व-वर्तिनीम्—परिपार्श्वे वर्तते तच्छीला इति परिपार्श्व-वर्तिनी, परिपार्श्व + वृत् + णिनि + ङीप् द्वितीया, 'उसे जो उसके अत्यन्त पास थी'। विवर्तितानञ्जन-नेत्रम्—अविद्यमानम् अञ्जनं ययोः ते अनञ्जने, विवर्तिते अनञ्जने नेत्रे यस्मिन् (बहु०) तत्, 'अञ्जन रहित आँखों को घुमाती हुई'। ऐक्षत—✓ईक्ष 'देखना' लङ् प्र० एक०।

हिन्दी—इस प्रकार ब्राह्मण द्वारा मन की बात कहने पर वह हृदयवर्ती (वर) के बताने में (लज्जा के कारण) असमर्थ रही। इसके पश्चात् उसने अत्यन्त पास बैठी सखी को अंजन रहित आँख से इशारा किया। [५१]

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं
निबोध साधो! तव चेत् कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्ण - वारणं
कृतं तपःसाधनमेतया वपुः॥ ५२॥

अन्वयः—तदीया सखी तं वर्णिनम् उवाच—(हे) साधो! तव कुतूहलं चेत् निबोध यदर्थम् एतया अम्भोजम् उष्ण-वारणम् इव वपुः तपःसाधनं कृतम्।

वाच्यपरि०—तदीयया सख्या स वर्णी ऊचे।.......कुतूहलेन (वृत्यते),.... निबुध्यताम्,....एषा...कृतवती।

श०—वर्णिन्—ब्रह्मचारिन्। कुतूहल—उत्सुकता, कौतुक। निबोध—तुम जानो। उष्ण-वारण—छत्र। अम्भोज—कमल। तपःसाधन—तपस्या के साधन का उपाय।

मल्लि०—सखीति। तस्याः पार्वत्याः इदं तदीया सखी वयस्या तम्। 'वर्णः प्रशस्तिः' इति क्षीरस्वामी, सोऽस्यास्तीति वर्णिनं ब्रह्मचारिणम्।

'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इति इनिप्रत्ययः । उवाच ब्रूते स्म । किमिति ? हे साधो विद्वन् । तव कुतूहलं चेत्, श्रोतुम् अस्तीति शेषः, तर्हि निबोध अवगच्छ आकर्णयेत्यर्थः । 'बुध अवगमने' इति धातोर्भौवादिकाल्लोट् । श्रोतव्यं किं तदाह—यस्मै लाभाय इदं यदर्थम् **'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता चेति'** वक्तव्यमिति वार्तिकनियमात् क्रियाविशेषणम् । एतया पार्वत्या अम्भोजं पद्मम् । उष्ण-वारणम् आतपत्रम् । इव वपुः शरीरम् । तपः-साधनं कृतम् तपःप्रवृत्तिकारणमुच्यते श्रूयतामित्यर्थः ॥ ५२ ॥

टि०—**वर्णिनम्**—वर्णोऽस्यास्तीति वर्णी तम् , ब्रह्मचारिन् के अर्थ में वर्ण के आगे णिनि (इन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है (वर्णाद् ब्रह्म-चारिणि पा० ५. २. १३४); अन्यथा 'रंग वा जाति' के अर्थ में रूप होगा 'वर्णवान्' । वर्ण का अर्थ है प्रशस्ति (सांसारिक सुखों से विरक्ति) जैसा कि क्षीरस्वामी ने कहा है और मल्लिनाथ ने उसे उद्धृत किया हैः— 'वर्णः प्रशस्तिः' । मल्लिनाथ ने किरात० १. १. की टीका में प्रशस्ति शब्द इस प्रकार स्पष्ट किया हैः—

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

सखी—सखी का नाम जया था । **साधो**—सम्बोधन एक०; साध्नोति परकार्यमिति साधुः, जो दूसरों का कार्य सिद्ध करता है, अर्थात् परोप-कारिन् । **यदर्थम्**—जिसके लिए (नित्यसमास) (अर्थेन सह नित्य-समासः सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्) । **अम्भोजम्**—अम्भसि जातम् इति अम्भोजम् ; अम्भस् + जन् + ड (सप्तम्यां जनेडः पा० ३. २. ९७), 'कमल' । **उष्ण-वारणम्**—उष्णस्य वारणम् (तत्पु०), छत्र । **तपःसा-धनम्**—तपसः साधनम् (तत्पु०) । यदि कोई पुरुष धूप से बचने के लिए कमल का छाता लगाता है तो वह कमल मुरझा जाता है, इसी प्रकार पार्वती अपने कमल जैसे कोमल शरीर को तपस्या की सिद्धि में लगा कर उसे मुरझा रही है ।

हिन्दी—उसकी सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—हे साधु ! तुम्हारा यदि कुतूहल है (तो) सुनो जिसलिए उसने (अपने) शरीर को, कमल को (धूप से बचने के लिए) छत्र के समान, तपस्या का साधन बनाया है। [५२]

इयं महेन्द्र - प्रभृतीनधिश्रिय-
श्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूप-हार्यं मदनस्य निग्रहात्
पिनाक-पाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—मानिनी इयम् अधिश्रियः महेन्द्रप्रभृतीन् चतुर्दिगीशान् अवमत्य मदनस्य निग्रहात् अरूप-हार्यं पिनाक-पाणिं पतिम् आप्तुम् इच्छति।

वाच्यपरि०—मानिन्या अनया…अरूप-हार्यः पिनाक-पाणिः पतिः …इष्यते ।

श०—मानिनी—अभिमानिनी । अधिश्रियः—(द्वि० बहु०) अधिक धनसम्पत्ति-युक्त को। अवमत्य—तिरस्कार करके । मदन—कामदेव। निग्रह—दमन, पराजय। अरूप-हार्य—जो रूप-सौन्दर्य द्वारा जीता नहीं जा सकता। पिनाक-पाणि—त्रिशूलधारी शिव ।

मल्लि०—"दृङ् मनःसङ्गसङ्कल्पो जागः कृशताऽरतिः ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥" इति ।

तत्राऽस्याः काश्चिद्दशाः क्रममनादृत्यैव योजयति, इयमित्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः। इयमिति। मानिनी इन्द्राणीप्रभृतीरतिशय्य वर्तितव्यमिति अभिमानवती इयं पार्वती अधिश्रियः अधिकैश्वर्यान् महेन्द्र-प्रभृतीन् इन्द्रादींश्चतसृणां दिशामीशान् (चतुर्दिगीशान्) इन्द्रवरुणयमकुबेरान्, **तद्धितार्थेत्यादिना उत्तरपदसमासः** । अवमत्य अवधूय। मदनस्य निग्रहात् निवर्हणाद्धेतोः अकामुकत्वादित्यर्थः । रूपेण सौन्दर्येण हार्यः वशीकरणीयो न भवतीति अरूप-हार्यम् । पिनाकः पाणौ यस्य तं पिनाक-पाणिं हरम्। 'प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति साधु। पतिं भर्तारम् । आप्तुमिच्छति। एतेन सङ्कल्पावस्था सूचिता ॥ ५३ ॥

टि०—मानिनी—मनोऽस्या अस्तीति मानिनी, मान+इनि+ङीप्।

अधिश्रियः—अधिका श्रीः येषां ते अधिश्रियः, तान् (बहु०), (द्वितीया बहु०) चतुर्दिगीशान् का विशेषण; 'ऐश्वर्यशाली (इन्द्र आदि) को।' **महेन्द्र-प्रभृतीन्**—महेन्द्रः प्रभृतिः येषां तान् (बहु०), इन्द्र आदि को। **चतुर्दिगीशान्**—चतसृणां दिशाम् समाहारः चतुर्दिक्, तस्य ईशाः (तत्पु०), 'चारों दिशाओं के स्वामी', तान्; इन्द्र, वरुण,यम और कुबेर क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं के स्वामी हैं। इस समास का विग्रह ऐसे भी किया जा सकता है:—चतुर्विदिक्सहिताः दिशः चतुर्दिशः तासाम् ईशाः तान् , (उत्तरपदलोपी तत्पु०)। चारों दिशाओं और चारों उपदिशाओं के स्वामी अर्थात् अधिदेवता यह हैं:—

> इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैऋतो वरुणो मरुत्।
> कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्॥

किन्तु समास का इस प्रकार विग्रह करना ठीक नहीं क्योंकि इससे शिव को भी सम्मिलित कर लिया जायगा, जिन्हें वह अपना पति बनाना चाहती है। **अवमत्य**—अव+√मन्+क्त्वा, 'तिरस्कार करके।' **मदनस्य निग्रहात्**—कामदेव के दमन के कारण। यही कारण है कि शिव रूप-सौन्दर्य द्वारा क्यों नहीं जीते जा सकते। **अरूप-हार्यम्**—हर्तुं योग्यः शक्यो वा हार्यः, न रूपेण हार्य इत्यहार्यरूपः (नञ् तत्पु०), तम्, उसे जिसे रूप-सौन्दर्य द्वारा जीता नहीं जा सकता; हार्य √हृ + ण्यत्; कामदेव का दहन इस बात का प्रबल प्रमाण है कि रूप-सौन्दर्य द्वारा शिव का हृदय वश में नहीं किया जा सकता। इसीलिए पार्वती ने कठोर तपस्या का आश्रय लिया। **पिनाक-पाणिम्**—पिनाकः पाणौ यस्य सः (बहु०) पिनाकपाणिः, तम्; देखो, पृष्ठ २५–२६। इस पद्य द्वारा पार्वती के मन की पहली दशा सूचित होती है, अर्थात् वह संकल्प, जो कि अपनी इच्छा के विषय की प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय है।

हिन्दी—यह मनस्विनी (पार्वती) अत्यधिक ऐश्वर्यशाली इन्द्र आदि चारों दिशाओं के अधिपति देवताओं की उपेक्षा करके कामदेव को जलाने के कारण सौन्दर्य द्वारा वश में न होनेवाले शिव को भर्त्ता प्राप्त करना चाहती है। [५३]

असह्य - हुङ्कार - निवर्तितः पुरा
पुरारिमप्राप्त - मुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायत-पातमक्षिणो -
द्विशीर्ण-मूर्तेरपि पुष्प-धन्वनः ॥ ५४ ॥*

अन्वयः—पुरा असह्य-हुङ्कार-निवर्तितः पुरारिम् अप्राप्त-मुखः विशीर्ण-मूर्तेः अपि पुष्प-धन्वनः शिलीमुखः इमां हृदि व्यायत-पातम् अक्षिणोत्।

वाच्यपरि०—...असह्य-हुङ्कार-निवर्तितेन....अप्राप्त-मुखेन ....शिलीमुखेन इयं....अक्षीयत ।

श०—विशीर्ण—नष्ट । मूर्ति—देह । पुष्प-धन्वन्—कामदेव । शिलीमुख—बाण । हुङ्कार—हुङ्कार शब्द, हुङ्कार शस्त्र । निवर्तित—लौटाया गया । पुरारि—शिव । अप्राप्त-मुख—जिसकी नोक (शिव तक) पहुँच न पाई थी । व्यायत-पात—तीव्र प्रहार । अक्षिणोत्—क्षीण कर दिया, मार डाला ।

मल्लि०—असह्येति । पुरा पूर्वम् । (असह्य-हुङ्कार-निवर्तितः) असह्येन सोढुमशक्येन हुङ्कारेण रौद्रेण निवर्तितः । अतएव पुरारिं हरम् । अप्राप्त-मुखः अप्राप्तफलः । विशीर्ण-मूर्तेः नष्टशरीरस्य । अपि पुष्प-धन्वनः कामस्य । शिलीमुखः बाणः । इमां पार्वतीम् । हृदि (व्यायत-पातम्) व्यायतः सुदूरावगाढ इति यावत् तादृक् पातः प्रहारो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । अक्षिणोत् अकर्शत्, दग्धदेहस्यापि मार्गणो लग्नः, "मृदुः सर्वत्र बाध्यते" इति भावः । अनेन "विवृण्वती शैलसुतापि भावम्" इत्यत्रोक्तं चक्षुःप्रीतिमनःसङ्गाख्यम् अवस्थाद्वयमनन्तरावस्थोपयोगितया अनूद्य कार्श्यावस्था सूचिता ॥ ५४ ॥

टि०—पुरा—पुरातनकाल में, जब कामदेव ने शिव को लुभाना चाहा और शिव ने उसे जलाकर भस्म कर डाला । विशीर्ण-मूर्तेः—विशीर्णा मूर्तिः यस्य (बहु०) तस्य, जिसका शरीर नष्ट हो चुका था। देखो,

'तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥' कुमार० ३. ७२

अपि—चाहे कामदेव नष्ट हो चुका था, तब भी उसके सहायक वीर शिव के प्रति अपनी चेष्टाओं पर तत्पर थे। 'अपि' शब्द द्वारा कामदेव

के वीरों की तत्परता प्रकट होती है। पुष्प-धन्वनः—पुष्पाण्येव धनुर्यस्य (बहु०) तस्य, पुष्पधनु+अनङ् (धनुषश्च पा० ५. ४. १३२) पुष्प-धनुर्धारी कामदेव का। पुष्प जो कामदेव के पाँच बाण कहे जाते हैं यह हैं:—

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥

कुछ लोग नवमल्लिका के बदले शिरीष को गिनते हैं:—

अरविन्दमशोकं च शिरीषं नीलमुत्पलं।
चूतं चेति प्रकीर्त्यन्ते पञ्चबाणस्य सायकाः॥

शिलीमुखे—शिली शल्यं मुखे यस्य सः (बहु०), बाण; इसका अर्थ भ्रमर भी है। (देखो 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः।) असह्य-हुङ्कार-निवर्तितः—असह्येन हुङ्कारेण निर्वर्तितः (तत्पु०), भयंकर हुँकार से लौटाया गया। असह्य—न सह्यः सोढुं योग्य असह्यः (नञ् तत्पु०); सह्य—सह् 'सहन करना' + यत्। हुङ्कार—हुँकार शब्द अथवा रुद्र का हुँकार शस्त्र। निवर्तितः–नि+√वृत् + णिच् + क्त। पुरारिम्—पुरस्य अरिः (तत्पु०), तम्। पुर शब्द से स्वर्ण, रजत और लोहे के तीन नगरों की ओर संकेत है जो मय, विद्युन्माला तथा तारकासुर द्वारा आकाश, वायु तथा पृथ्वी पर बनाये गये थे। शिव ने उन्हें जीतने के लिए एक हज़ार वर्ष तक प्रतीक्षा की थी। काले ने महाभारत में से निम्नांश उद्धृत किया है:—

त्रिपुरस्य वधार्थाय स्थाणुः प्रहरतां वरः।
स्थानं माहेश्वरं कृतया दिव्यमप्रतिमं प्रभुः॥
अतिष्ठत स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान्।
यदा त्रीणि समेतानी अन्तरिक्षे पुराणि च॥
त्रिपर्वेण त्रिशल्येन तदा तानि बिभेद सः।

अप्राप्त-मुखः—अप्राप्तं मुखं यस्य (बहु०) सः, जिसकी नोक पहुँच न सकी थी। व्यायतपातम्—आक्षिपेत् का क्रिया विशेषण है। व्यायतः पातो यस्मिन्निति (बहु०) यथा स्यात्तथा, 'जिसमें प्रहार सबसे तीव्र था'। व्यायतः—विशेषेण आयत इति व्यायतः, वि + आ +√ यम् + क्त, बहुत

गहरा। अक्षिणोत्—√क्षिण् 'मारना' लङ् प्रथम पु० एक० ; इस पद्य द्वारा पार्वती की चक्षुःप्रीति, मनःसङ्ग तथा कृशता का बोध होता है।

हिन्दी—पूर्वकाल में (अर्थात् मदन-दहन के समय) (शिव के) दुःसह्य हुँकार से लौटाया हुआ, उनको (शिव को) स्पर्श न कर सकनेवाला तथा नष्ट शरीर भी धनुर्धारी कामदेव का बाण इसे (अर्थात् पार्वती को) हृदय में तीव्र आघात करके मार (व क्षीण कर) रहा है। [५४]

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे
ललाटिका-चन्दन-धूसरालका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं
तुषार-सङ्घात-शिला-तलेष्वपि ॥ ५५॥

अन्वयः—तदा प्रभृति पितुः गृहे उन्मदना ललाटिका-चन्दन-धूसरालका बाला जातु तुषार-सङ्घात-शिला-तलेषु अपि निर्वृतिं न लभते स्म।

वाच्यपरि०—""उन्मदनया ललाटिका-चन्दन-धूसरालकया....बालया निर्वृतिः....लभ्यते स्म।

श०—उन्मदना—कामपीड़ित, उन्मत्त बाला। ललाटिका—तिलक। धूसर—मटियाला रंग। अलक—लटा। न जातु—कभी नहीं। तुषार—बर्फ। संघात—ढेर। निर्वृति—सुख।

मल्लि०—तदेति। तदेति च्छेदः। तदा प्रभृति तत आरभ्येत्यर्थः। सप्तम्यर्थस्यापि दाप्रत्ययस्य पञ्चम्यर्थे लक्षणा प्रभृतियोगे पञ्चमीनियमात्। पितुर्गृहे उन्मदना उत्कटमन्मथा। (ललाटिका-चन्दन-धूसरालका) ललाटस्थालङ्कारो: ललाटिका तिलकः, "कर्णललाटात् कनूअलङ्कारे" इति कनूप्रत्ययः, तस्याश्चन्दनेन धूसराः धूसरवर्णा अलकाः चूर्णकुन्तलाः यस्याः सा तथोक्ता। बाला पार्वती। जातु कदाचिदपि (तुषार-सङ्घात-शिला-तलेषु) तुषारसङ्घाताः तुषारघनास्ता एव शिलाः तासां तलेषु उपरिभागेषु। अपि निर्वृतिं सुखं न लभते स्म। एतेन अरत्यपरसंज्ञा विषयविद्वेषावस्था द्वादशावस्थापन्ने संज्वरश्च व्यज्यते ॥ ५५ ॥

टि०—तदा प्रभृति—तब से लेकर ; तदा—तत् + दा (सर्वैकान्य-

किंयत्तदः काले दा पा० ५. ३. १५)। सर्वनाम 'तत' तब समय का सूचक हो जाता है और सप्तमी में प्रयुक्त होता है किन्तु प्रभृति के साथ पञ्चमी का प्रयोग होता है क्योंकि भाष्यकार ने इस शब्द का प्रयोग पञ्चमी विभक्ति के साथ किया है। 'कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्य-प्रयोगात्'। मल्लिनाथ ने इसके समर्थन में कहा है कि पञ्चमी के अर्थ में भी दा प्रत्यय शब्दों के आगे जोड़ा जा सकता है। 'सप्तम्यर्थस्यापि दाप्रत्ययस्य पञ्चम्यर्थे लक्षणाप्रभृतियोगे पञ्चमीनियमात्'। उन्मदना—उत्कटो मदनो यस्याः (बहु०) सा, जो प्रेम से विह्वल हो रही थी। ललाटिका-चन्दन-धूसरालका—ललाटिकायाः चन्दनेन धूसराः अलकाः यस्याः (बहु०) सा, चन्दन के लेप द्वारा जिसकी लटायें सफेद हो गई थीं। ललाटिका – ललाट + कन् (कर्णललाटात्कन् अलङ्कारे पा० ४. ३. ६५) तिलक। तुषार-संघात-शिला-तलेषु—तुषाराणां सङ्घाता एव शिला तासां तलेषु (तत्पु०), ढेरों जमी वर्फ की चट्टानों पर प्रेमाग्नि को शान्त करने के लिए पार्वती अपने माथे पर चन्दन का लेप लगाया करती थी और बर्फ की शिलाओं पर बैठा करती थी परन्तु यह उपयुक्त प्रतिकार न था, क्योंकि स्वभाव से ठण्डी वस्तुएँ प्रेम-विह्वल व्यक्ति पर विपरीत प्रभाव ही डालती हैं। संस्कृत-साहित्य के पाठक इस कारण की तथा इसके परिणाम की भिन्नता को भली प्रकार जानते हैं। यह पद्य इन्द्रियों के विषय के प्रति पार्वती की उदासीनता तथा शिव के प्रति उसका प्रवल प्रेम-ज्वर प्रकट करता है। टीका देखो।

हिन्दी—तभी से लेकर पिता के घर में मदन-पीड़ित होकर, माथे पर लगाये चन्दन के तिलक से धूसर बालोंवाली वह युवती (पार्वती) हिम जमी चट्टानों पर भी कभी सुख न पाती थी। [५५]

उपात्त-वर्णे चरिते पिनाकिनः
सबाष्प-कण्ठ-स्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नर-राज-कन्यका
वनान्त - सङ्गीत-सखीररोदयत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—पिनाकिनः चरिते उपात्त-वर्णे सबाष्प-कण्ठ-स्खलितैः पदैः (पार्वती) वनान्त-सङ्गीत-सखीः किन्नर-राज-कन्यकाः अनेकशः अरोदयत्।

वाच्यपरि०—...अनया वनान्त-सङ्गीत-सख्यः....अरोद्यन्त।

श०—उपात्त—प्राप्त। वर्ण—अक्षर, गीत-क्रम। स्खलित—लड़खड़ाता हुआ। अनेकशः—कई बार। वनान्त—वन-मध्य, रम्य वन।

मल्लि०—उपात्तेति। पिनाकिनः शम्भोः। चरिते त्रिपुरविजयादि-चेष्टिते। उपात्त-वर्णे प्रारब्धगीतिक्रमे। "गीतिक्रमे स्तुतौ वेषे वर्णशब्दः प्रयुज्यते" इति हलायुधः। (सबाष्प-कण्ठ-स्खलितैः) सबाष्पे गद्गदे कण्ठे स्खलितैः विशीर्णैः। पदैः सुप्तिङन्तरूपैःकरणैः। (वनान्त-सङ्गीत-सखीः) वनान्ते सङ्गीतेन निमित्तेन सखीः वयस्याः। किन्नर-राज-कन्यकाः अनेकशः बहुशः। अरोदयत् अश्रुमोक्षमकारयत्। हरचरितगानजनित-मदनावेदनामेनां वीक्ष्य किन्नर्योऽपि रुरुदुरिति भावः। अत्र वर्णस्खलनलक्ष-कार्योक्त्या पुनः पुनः तत्कारणीभूतमूर्च्छावस्थाप्रादुर्भावो व्यज्यते, अन्यथा सखीरोदनानुपपत्तेरिति। द्वादशावस्थापक्षे तु प्रलापावस्था च व्यज्यते। "प्रलापो गुणकीर्त्तनम्" इत्यालङ्कारिकाः॥ ५६॥

टि०—पिनाकिनः—पिनाकोऽस्यास्तीति पिनाकिन् तस्य; देखो पृष्ठ—२५-२६। उपात्त-वर्णे—उपात्तः वर्णः यस्मिन् (बहु०) स उपात्तवर्णः, तस्मिन्, गाना आरम्भ किये जाने पर। उपात्त—उप + आ + √दा + क्त। आ, उप + आ, नि, और प्र उपसर्गों के साथ √ दा 'देना' के आरम्भ के द् का लोप हो जाता है। वर्ण—गीतिक्रमः—शब्दों का क्रम-बद्ध प्रबन्ध। देखो;

शुक्लादौ ब्राह्मणादौ च शोभायामक्षरे तथा।
गीतिक्रमे स्तुतौ वेषे वर्णशब्दः प्रयुज्यते॥ हलायुध

सबाष्प-कण्ठ-स्खलितैः—बाष्पेण सह वर्तत इति सबाष्पः (बहु०), सबाष्पश्चासौ कण्ठश्चेति सबाष्पकण्ठः (कर्म०) तस्मिन् स्खलितैः (तत्पु०), 'आँसुओं से भरे (रुँधे) गले से अस्पष्ट निकलनेवाले'। दुःख के समय गला रुँध जाता है। पदैः—शब्दों द्वारा; पद का लक्षण है 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० १. ४. १४), अथवा वर्णापदं प्रयोगार्हानन्वितै-कार्थबोधकाः (सा० द०), अथवा ते विभक्त्यन्ताः पदम् (न्याय—सू० २. २. ६०), अथवा शक्तं पदम् (तर्क- ग्रह)। वनान्त-सङ्गीत-सखीः—

वनान्ते सङ्गीतेन सख्यः (तत्पु०), ताः, 'रम्य वन में साथ में गानेवाली सखियों को'। सङ्गीत—सं + √ गै १ पर० + क्त; गै गी में बदल जाता है। (घुमास्थागापा० पा० ६. ४. ६६)। 'अन्त' के निम्नलिखित अर्थ हैं :—

"अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः।
(अवयवेऽपि) हैम

इस मतानुसार 'वनान्त' का अर्थ होगा वन-प्रान्त किन्तु 'अन्त' को शब्दार्णव के मतानुसार रम्य के अर्थ में लेना उचित होगा :—

'मृतावववसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते।'

मल्लिनाथ ने शिशुपालवध ४. ४०. पर टीका में 'अन्त' शब्द को रम्य के अर्थ में लिया है और यही भाव यहाँ ठीक जँचता भी है। किन्नर-राज-कन्यकाः—किन्नराणां राजा किन्नर-राजः, (तत्पु०) किन्नर-राजन्+टच् (राजाहःसखिभ्यष्टच पा० ५.४.९१), किन्नरराजस्य कन्यकाः (तत्पु०), ताः, 'किन्नरों की पुत्रियों को'। किन्नर आधे देवता हैं और गन्धर्व आदि के वर्ग में गिने गये हैं। देखो,

विद्याधराप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ अमर

अनेकशः—एकमेकमिति एकशः न एकशः अनेकशः; दोहराने के अर्थ में गिनतीवाले शब्दों को शस् प्रत्यय जोड़ा जाता है। (संख्यैकवचनाच्च पा० ५.४.४३)। अरोदयत्—√ रुद्+णिच्, लङ् प्रथम पु० एक०; 'उन्हें रुलाती थी'। यह पद्य मूर्च्छावस्था का द्योतक है। प्रलापावस्था—'अपने प्रिय की प्रशंसा'; प्रलाप का लक्षण है 'प्रलापो गुणकीर्तनम्।'

हिन्दी—यह (पार्वती) शिव के चरित्र का गान आरम्भ होने पर आँसुओं से रुँधे कण्ठ से अस्पष्ट निकलनेवाले वचनों द्वारा रम्य वन में संगीत-सखियों किन्नर - राज - कन्याओं को अनेक बार रुलाती थी। [५६]

त्रिभाग - शेषासु निशासु च क्षणं
निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नील-कण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्य - वा-
गसत्य - कण्ठार्पित - बाहु - बन्धना ॥ ५७ ॥

अन्वयः—(किञ्च) त्रिभाग-शेषासु निशासु क्षणं नेत्रे निमील्य सहसा (हे) नील-कण्ठ ! क्व व्रजसि इति अलक्ष्य-वाक् असत्य-कण्ठार्पित-बाहु-बन्धना (सती) व्यबुध्यत ।

वाच्यपरि०—....व्रज्यते ....अलक्ष्य-वाचा असत्य-कण्ठार्पित-बाहु-बन्धनया.... ।

श०—निमील्य—बन्द करके। नीलकण्ठ—शिव। अलक्ष्य-वाक्—बिना लक्ष्य किये बोलना। व्यबुध्यत—जाग उठती थी।

मल्लि०—त्रिभागेति। (च) किञ्चेति चार्थः। (त्रिभाग-शेषासु) शिष्यत इति शेषः, कर्मणि घञ्; त्रिभ्यो मार्गेभ्यः शेषासु अवशिष्टासु। यद्वा रात्रेः त्रियामत्वेन प्रसिद्धत्वात् तृतीयो भागः, संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमिष्यते। यथा शतांशः साहस्रांश इति। त्रिभागः शेषो यासां तासां तासु निशासु। क्षणं क्षणमात्रं नेत्रे निमील्य मिलयित्वा। सहसा सद्यः। हे नील-कण्ठ ! क्व व्रजसि ? कुत्र गच्छसि ? इति (अलक्ष्य-वाक्) अलक्ष्या निर्विषया वाग् वचनं यस्याः सा तथोक्ता। तथा (असत्य-कण्ठार्पित-बाहु-बन्धना) असत्ये मिथ्याभूते कण्ठे अर्पितं बाहुबन्धनं यस्याः सा तथा सति ! व्यबुध्यत विबुद्धवती। एतेन जागरोन्मादौ सूचितौ ॥ ५७ ॥

टि०—त्रिभाग-शेषासु—त्रिभ्यो भागेभ्यः शेषा इति त्रिभागशेषाः तासु (द्विगु०), रात्रि के तीन भाग व्यतीत हो जाने के अनन्तर जो भाग शेष रहे, अर्थात् रात्रि का चौथा पहर। अथवा समास का विग्रह इस प्रकार भी किया जा सकता है:—तृतीयो भागः त्रिभागः, त्रिभागः शेषो यासां ताः त्रिभागाः (बहु०) तासु ; रात्रि में जिसका केवल तीसरा भाग शेष रहा था अर्थात् रातों के दूसरे पहर में। समास का यह दूसरा विग्रह रात्रि के उपनाम त्रियामा के ठीक अनुकूल बैठता है। इससे ज्ञात होता है कि रात्रि तीन पहरों में विभक्त थी। दूसरे पहर के अन्त में पार्वती की आँख लगने लगती थी कि तीसरे पहर के प्रारम्भ में वह सहसा जाग उठती थी। निमील्य—नि + √ मील् + ल्यप्। नील-कण्ठ—नीलः कण्ठो यस्य (बहु०) सः, सम्बोधन। शिव को नीलकण्ठ

इसलिए कहा जाता है क्योंकि उन्होंने अमृत-मन्थन के समय हलाहल विषपान कर लिया था, जिससे उनका गला नीले रंग का हो गया था। अलक्ष्य-वाक्—अविद्यमानं लक्ष्यं (बहु०) यस्याः सा अलक्ष्या, अलक्ष्या वाक् यस्याः (बहु०) सा, 'बिना किसी को लक्ष्य करके बोलना' अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है 'उसकी बोली अस्पष्ट थी और कठिनाई से सुनी जा सकती थी' (ईषदर्थे नञः प्रयोगः)। अथवा इससे कदाचित् उसकी लड़खड़ाती बोली की ओर संकेत हो : "सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्" कुमार० ५. ५६.। असत्य-कण्ठार्पित-बाहु-बन्धना—असत्ये कण्ठे अर्पितं बाहुबन्धनं यया (बहु०) सा, 'जिसने झूठमूठ के (शिव) के गले पर अपनी भुजायें डाल दी थीं'। पार्वती स्वप्न में भी शिव की मूर्ति को सचमुच की समझती थी और जाग जाने पर भी शिव के इर्द-गिर्द बाहें फैला देती थी। मल्लिनाथ के मतानुसार यह पद्य पार्वती का रात भर जागते रहना और उन्मत्तावस्था का वर्णन करता है। "एतेन जागरोन्मादौ सूचितौ"। साहित्य-दर्पण में यह पद्य प्रलापावस्था का उदाहरण बताया गया है। प्रलाप का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

अलक्ष्यवाक् प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम्।

हिन्दी—और तीसरा भाग रात के रहते क्षणमात्र आँखें बन्द करके (अर्थात् सोकर) अकस्मात् वह "हे नीलकण्ठ ! कहाँ जाते हो ?" ऐसा बिना लक्ष्य के बोलती हुई (शिव के) काल्पनिक कण्ठ पर भुज-बन्धन डालकर जाग पड़ती थी। [५७]

यदा बुधः सर्व-गतस्त्वमुच्यसे
न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया
रहस्युपालभ्यत चन्द्र-शेखरः॥ ५८॥

अन्वयः—यदा त्वं बुधैः सर्व-गतः उच्यसे (ततः) भावस्थम् इमं जनं (मां) कथं न वेत्सि मुग्धया (अनया) स्वहस्तोल्लिखितः चन्द्र-शेखरः रहसि इति उपालभ्यत च।

वाच्यपरि०—...बुधाः त्वां सर्व-गतं ब्रुवन्ति। भावस्थः अयं जनः

....विद्यते । ....मुग्धा स्वहस्तोल्लिखितं चन्द्र-शेखरं....उपालभत.... ।

श०—सर्व-गतः—सर्वव्यापी । भाव—अनुराग । मुग्धा—मूढ । उल्लिखित—चित्रित । चन्द्र-शेखर—शिव । उपालभ्यत—उलाहना दिया जाता था ।

मल्लि०—स्वप्न-सादृश्य-प्रतिकृति - दर्शन-तदङ्ग-स्पृष्ट- स्पर्शाख्याश्चत्वारो विरहिणां विनोदाः, तत्र स्वप्न-सन्दर्शनमुक्त्वा प्रतिकृति-दर्शनमाह—यदेति । यदा यत इत्यर्थः । यदेति हेतौ इत्युक्त्वा गणव्याख्याने अस्य उदाहृतत्वात् । त्वं बुधैः मनीषिभिः सर्वगतः सर्वव्यापीति उच्यसे । तत इत्यध्याहारः भावे रत्याख्ये तिष्ठतीति भावस्थम् , त्वयि अनुरागिणमित्यर्थः । इमं जनम् इममित्यात्मनिर्देशः । कथं न वेत्सि न जानासि । इति मुग्धया मूढया अकिञ्चित्करश्चित्रगतोपालम्भ इत्यजानानयेत्यर्थः । तया (स्वहस्तोल्लिखितः) स्वहस्तेन उल्लिखितः चित्रे लिखितः चन्द्र-शेखरः रहसि एकान्ते सखीमात्रसमक्षमित्यर्थः । उपालभ्यत साधिक्षेपमुक्तः च उक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । यद्यपि रहसीत्युक्तं तथाऽपि सखीसमक्षकरणात् लज्जात्यागो व्यज्यत एव ॥ ५८ ॥

टि०—सर्वगतः—सर्वं गतः, सर्वव्यापी । गत के साथ द्वितीया विभक्ति लगती है । अतः यह द्वितीयातत्पुरुष है । भावस्थम्—भावे तिष्ठतीति भावस्थः (उपपदतत्पु०), तम्; भाव+√स्था+क (सुपिस्थः पा० ३.२.४), 'भाव' शब्द का अर्थ यहाँ 'अनुराग' है । इससे पार्वती ने शिव को, उनका चित्र खींचकर, उलाहना दिया है । उसके ताने भरे वचन कहना ठीक ही है, क्योंकि सर्वव्यापी शिव उसके हृदय की इच्छाओं को अवश्य जानते होंगे । उनकी उदासीनता उनके कठोर हृदय को बताती है । पार्वती ने अपने प्रेम-पात्र शिव की निन्दा करते समय मधुर, कोमल और युक्तियुक्त शब्दों का ही प्रयोग किया है ।

मुग्धया—मूढ़ द्वारा । पार्वती को मुग्धा कहा है क्योंकि वह शिव के चित्र से बातचीत किया करती थी, उसे यह ज्ञान न होता था कि चित्र से बातचीत करना वृथा है । नागानन्द नाटक में अप्सरायें बुद्ध को डाँटते समय कठोर शब्दों का व्यवहार करती हैं और उसे अतिनिर्दय

कहकर पुकारती हैं क्योंकि वह उन्हें कामदेव के बाणों से बिंध जाने से रक्षा नहीं करता।

पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः स कोऽन्यः पुमान्॥ १. १.

स्वहस्तोल्लिखितः—स्वेन हस्तेन उल्लिखितः (तत्पु०), 'अपने हाथ से चित्रित।' इससे पार्वती की रुचि ललित-कलाओं में प्रकट होती है। चन्द्र-शेखरः—चन्द्रः शेखरे यस्य (बहु०); यह शिव का उपनाम है। चन्द्रकला को मस्तक पर धारण करने से वे ऐसा कहलाते हैं। रहसि—एकान्त में। 'रहस्' मल्लिनाथ के मतानुसार यहाँ 'रहस्' शब्द विस्तृत रूप में नहीं लिया जा सकता क्योंकि पार्वती के साथ सदा उसकी सखियाँ, जया और विजया, रहती थीं। देखो, 'रहसि एकान्ते। सखीमात्रसमक्षमित्यर्थः ...यद्यपि रहसीत्युक्तं तथापि सखीसमक्षकरणाल्लज्जात्यागो व्यज्यत एव।'

यह पद्य ह्री-त्याग का उदाहरण है, क्योंकि पार्वती अपने हाथ से बनाये शिव के चित्र से अपनी सखियों के सामने बातचीत करती थी।

हिन्दी—"जब तुम विद्वान् लोगों से सर्वव्यापी पुकारे जाते हो तो तुम प्रेम में अनुरक्त इस जन को कैसे नहीं जानते?" इस प्रकार अपने हाथ से लिखे हुए शिव के चित्र को एकान्त में वह उलाहना दिया करती थी। [५८]

यदा च तस्याधिगमे जगत्पते-
रपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरो-
रियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम्॥ ५९॥

अन्वयः—जगत्पतेः तस्य अधिगमे अन्यं विधिं विचिन्वती यदा च न अपश्यत् तदा इयं गुरोः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपोवनं प्रपन्ना।

वाच्यपरि०—...विचिन्वत्या अनया यदा अन्यः विधिः न अदृश्यत,....प्रपन्नम्।

श०—अधिगम—प्राप्ति। विचिन्वती—खोजती हुई। विधि—उपाय। अनुज्ञा—आज्ञा। प्रपन्ना—आई।

मल्लि०—यदेति । जगत्पतेः तस्य ईश्वरस्य । अधिगमे प्राप्तौ । अन्यं विधिम् उपायम् । विचिन्वती मृगयमाणा । यदा न अपश्यत् तदा इयं पार्वती गुरोः पितुः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपश्चरितुं तपोवनं प्रपन्ना प्राप्ता ॥ ५६ ॥

टि०—जगत्पतेः—जगतां पतिः (तत्पु०) तस्य; पति—जब पति शब्द समास का अन्तिम शब्द हो हो तो उसका रूप हरि की भाँति होगा। (पतिः समास एव पा० १. ४. ८) । अधिगमे—√गम् 'जाना' का उपसर्ग अधि सहित अर्थ होता है 'प्राप्त करना' । विचिन्वती—वि + √चि + शतृ + ङीप्; खोज रही । गुरोरनुज्ञया—अपनी माता-पिता की आज्ञा से । गुरु का एकवचन प्रायः दोनों माता-पिता के लिए प्रयुक्त होता है । गुरु एकवचन द्वारा कुछ लोग केवल पिता का ही अर्थ लेते हैं । देखो,

कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा । कुमार० ५.७.

अस्माभिः सह—यहाँ द्वि-वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग हुआ है । पार्वती के साथ उसकी केवल दो सखियाँ थीं, जया और विजया । देखो,

गौरी विजयया सख्या जयया च सुनेत्रया ।
साकं सखीभ्यां सुमुखी सा गौरिशिखरं ययौ ॥ शिवपुराण

प्रपन्ना—प्र + √ पद + क्त + टाप् । √ पद् 'जाना' का प्र उपसर्ग के साथ अर्थ होता है 'आना' ।

हिन्दी—और उस जगतपति की प्राप्ति के अन्य उपाय को ढूँढती हुई (पार्वती) ने जब कोई (उपाय) न देखा तब यह पिता की आज्ञा से हमारे साथ तपस्या करने के लिए तपोवन को आगई । [५६]

द्रुमेषु सख्या कृत-जन्मसु स्वयं
फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते
मनोरथोऽस्याः शशि-मौलि-संश्रयः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सख्या स्वयं कृत-जन्मसु तपःसाक्षिषु एषु द्रुमेषु अपि फलं दृष्टम्, अस्याः शशि-मौलि-संश्रयः मनोरथः प्ररोहाभिमुखः अपि न च दृश्यते ।

वाच्यपरि:—....दृष्टवती,...शशि-मौलि-संश्रयम्....मनोरथं...प्ररोहाभिमुखम्...पश्यामि ।

श०—कृत-जन्मन्—स्वयं लगाये हुए । शशि-मौलि—चन्द्रशेखर, शिव । संश्रय—आधार । प्ररोह—अंकुर । अभिमुख—सम्मुख ।

मल्लि०—द्रुमेष्विति । सख्या पार्वत्या । स्वयं (कृत-जन्मसु) कृतं जन्म येषां तेषु, स्वयम् रोपितेषु इत्यर्थः । (तपःसाक्षिषु) तपसः साक्षिषु साक्षाद् द्रष्टृषु एषु द्रुमेषु अपि फलं दृष्टं लब्धं जनितमित्यर्थः । अस्याः पार्वत्याः च शशि-मौलि-संश्रयः चन्द्रशेखरविषयः मनोरथः तु प्ररोहाभिमुखः अङ्कुरोन्मुखः अपि न दृश्यते । "प्ररोहस्त्वङ्कुरोऽङ्कुरः" इति वैजयन्ती । स्वयं रोपितवृक्षफलकालेऽपि अस्या मनोरथस्य न अङ्कुरोदयोऽपि अस्ति, फलाशा तु दूरापास्तेत्यर्थः ॥ ६० ॥

टि०—सख्या—(हमारी) सखी द्वारा । इससे पार्वती की ओर संकेत है । कृत-जन्मसु—कृतं जन्म येषां (बहु०) तेषु, 'उससे स्वयं लगाये गये हैं (अर्थात् जिन्हें उसने जन्म दिया था)' । तपःसाक्षिषु—तपसः साक्षिषु (तत्पु०), 'तपस्या के साक्षीभूत (पेड़ों में)' । वन में रहने पर जो वृक्ष पार्वती ने लगाये थे, वे उसके संगी-साथी थे । अतः वे पेड़ उसकी तपस्या के साक्षी कहे गये हैं । कवि ने पहले एक ऐसी उपमा दी है जिसमें काली रातें बिजली रूपी आँखों से उसकी तपस्या को देखती थीं । फलं दृष्टम्—इससे बोध होता है कि उसे तपस्या प्रारम्भ किये कितना समय व्यतीत हो गया था । शशि-मौलि-संश्रयः—शशिमौलिः संश्रयो यस्य (बहु०) सः, जिसके आधार शिव थे, अर्थात् शिव सम्बन्धी । मनोरथ का यह विशेषण है । शशि-मौलिः—शशी मौलौ यस्य (बहु०) सः, वह जिसके मस्तक पर चन्द्रमा है । यहाँ मौलि का अर्थ मस्तक है । दूसरी प्रकार इस समास का विग्रह होगा, शशी मौलिः यस्य (बहु०) सः, चन्द्रमा रूपी मुकुटधारी । मौलि का अर्थ होगा 'शेखर, मुकुट' । प्ररोहाभिमुखः—प्ररोहस्य अभिमुखः, प्ररोहे अभिगतं मुखं यस्य (बहु०) सः । पार्वती की सखी के कहने का तात्पर्य यह है कि पार्वती द्वारा लगाये गये वृक्षों पर फल लग गये हैं किन्तु उसके मनोरथ के अङ्कुर-मात्र अभी तक दिखाई नहीं पड़े । उसे

अपना मनोरथ पूरा होने की आशा की धुँधली रेखा भी दिखाई नहीं दी।

हिन्दी—हमारी सखी (पार्वती) द्वारा जन्म दिये (अर्थात् लगाये गए) तपस्या के साक्षीभूत इन वृक्षों में भी फल लग गये, परन्तु इसकी शिव सम्बन्धी अभिलाषा का अङ्कुर-मात्र भी दिखाई नहीं दिया। [६०]

न वेद्मि स प्रार्थित-दुर्लभः कदा
सखीभिरस्त्रोत्तरमीक्षितामिमाम्।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं
वृषेव सीतां तदवग्रह-क्षताम् ॥ ६१ ॥*

अन्वयः—प्रार्थित-दुर्लभः स तपःकृशां सखीभिः अस्रोत्तरम् ईक्षिताम् इमां वृषा तदवग्रह-क्षतां सीतां इव अभ्युपपत्स्यते न वेद्मि।

वाच्यपरि०—प्रार्थित-दुर्लभेन तेन तपःकृशा....ईक्षिता इयं सखी तदवग्रह-क्षता सीता वृष्णा इव...विद्यते।

श०—अस्रोत्तरम्—आँसू भरे। ईक्षित—देखा। अवग्रह—सूखा। सीता—हल जोती हुई भूमि। वृषा—इन्द्र। अभ्युपपत्स्यते—दया दिखायेगा।

मल्लि०—न वेद्मीति। प्रार्थितः सन् दुर्लभः प्रार्थित-दुर्लभः स देवः तपःकृशां तपसा कृशां क्षीणाम् अत एव सखीभिः अस्रोत्तरम् अश्रुप्रधानं यथा भवति तथा ईक्षिताम् इमां नः सखीं (तदवग्रह-क्षतां) तस्य इन्द्रस्य अवग्रहेण अनावृष्ट्या क्षतां पीडिताम्। "वृष्टिर्वर्षे तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ" इत्यमरः। अवग्रहः वर्षप्रतिबन्ध इत्यर्थः। सीतां कृष्टभुवम्। "सीता लाङ्गलपद्धतिः" इत्यमरः। वृषा वासवः इव। "वासवो वृत्रहा वृषा" इत्यमरः। कदा अभ्युपपत्स्यते अनुग्रहीष्यति न वेद्मि। अत्र वाक्यार्थः कर्म। तदवग्रहक्षतामित्यत्र अवग्रहक्षतामित्यनेनैव गतार्थत्वे तत्पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः तदिति भिन्नं पदं वेद्मीत्यस्य कर्म इति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ६१ ॥

टि०—प्रार्थित-दुर्लभः—प्रार्थितश्चासौ दुर्लभश्चेति (कर्म०) सः; देखो पद्य ४६। तपःकृशाम्—तपसा कृशा तपः कृशा ताम्; 'तप द्वारा क्षीण को'। अस्रोत्तरम्—अस्रम् उत्तरं यस्मिन् (बहु०) कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा,

आँसू भरे। उसकी सखियाँ आँसू भरे नयन उस पर डालती थीं। आँसू गिराने का कारण था उनकी दुबली हो रही सखी के लिए अधिक चिन्ता का होना। तद्वग्रह-क्षताम्—तस्य अवग्रहेण क्षताम्, उसके द्वारा वर्षा के रोक लेने से दुःखित को। यह 'सीताम्' का विशेषण है। अवग्रह—अव + √ग्रह् + अप् (अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे पा० ३.३.५१) अव+ग्रह् को विकल्प से अप् जोड़ा गया है। दूसरा रूप घञ् के साथ होगा अवग्राह। अवग्रह—अनावृष्टि। देखो, 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातोऽवग्राहावग्रहौ समौ' अमर। मल्लिनाथ ने यहाँ तद् पृथक् शब्द लिया है। इस प्रकार तद् 'न वेद्मि' का कर्म होगा। परन्तु इसे समास का एक भाग मान लेना उचित होगा। इस प्रकार तद् का सम्बन्ध 'वृषन्' अर्थात् इन्द्र से होगा, क्योंकि इन्द्र ही वृष्टि तथा अनावृष्टि का कारण है। देखो,

वीरः स्वे यो व्यतनुत पदे वृष्टिहीने किलाज्ञां
मोघां मेघोदरभिदुरया बाणवृष्ट्या मघोनः।

सीताम्—द्वि० हल जुती भूमि। देखो, 'सीता लाङ्गलपद्धतिः।' अमर। वृषा—वर्षतीति। देखो, 'वासवो वृत्रहा वृषा।' अमर। जैसे हल फेरी गई ज़मीन वर्षा की आशा लगाये रहती है वैसे ही पार्वती शिव के अनुग्रह की गहरी आशा लगाये हुई थी। जैसे पृथ्वी इन्द्र द्वारा वर्षा के रोक लिये जाने पर दुःखी होती है वैसे ही पार्वती भी शिव द्वारा अनुग्रह के प्राप्त हुए बिना दुःखी हुई। अभ्युपपत्स्यते—अभि + उप् + √पद् लृट् प्र० एक०।

हिन्दी—मैं नहीं जानती कि प्रार्थना किए हुए भी दुर्लभ वे (शिव) तपस्या से क्षीण हुई तथा सखियों से आँसू भरे नेत्रों से देखी गई (हमारी) सखी (पार्वती) पर, इन्द्र के समान उसकी अनावृष्टि से पीड़ित तथा हल जोती हुई भूमि पर, कब कृपा करेंगे? [६१]

अगूढ - सद्भावमितीङ्गितज्ञया
निवेदितो नैष्ठिक - सुन्दरस्तया।
अयीदमेवं परिहास इत्युमा—
मपृच्छदव्यञ्जित - हर्ष - लक्षणः॥ ६२॥

अन्वयः—इङ्गितज्ञया तया इति अगूढ-सद्भावं निवेदितः नैष्ठिक-सुन्दरः अव्यञ्जित-हर्ष-लक्षणः (सन्) अयि ! इदम् एवं परिहासः इति उमाम् अपृच्छत्।

वाच्यपरि०—....निवेदितेन नैष्ठिक-सुन्दरेण अव्यञ्जित-हर्ष-लक्षणेन, ...अनेन....परिहासेन....उमा अपृच्छ्यत ।

श०—**इङ्गितज्ञा**—हृदयगत भाव को जानने वाली । **अगूढ**—प्रकाशित । **सद्भाव**—अच्छा भाव । **नैष्ठिक**—जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी । **अव्यञ्जित-हर्ष-लक्षणः**—हर्ष का चिह्न प्रकट किये विना ।

मल्लि०—अगूढेति । इङ्गित ज्ञया पार्वतीहृदयाभिज्ञया "इङ्गितं हृद्गतो भावः" इति सज्जनः । तया गौरीसख्या । इति एवम् अगूढ-सद्भावं प्रकाशितसदभिप्रायं यथा तथा । निवेदितः ज्ञापितः । (नैष्ठिक-सुन्दरः) निष्ठा मरणम् अवधिर्यस्य स नैष्ठिकः यावज्जीवब्रह्मचारी सुन्दरः विलासी नैष्ठिकश्चासौ सुन्दरश्चेति तथोक्तः, द्वयोरन्यतरस्य विशेषणत्वविवक्षायां विशेषणसमासः । किन्तु नैष्ठिकत्वविशेषणेन कामित्वविरोधः । अथवा देवस्य अलौकिकमहिमत्वात् उभयं तात्त्विकमिति न विरोधः । (अव्यञ्जित-हर्ष-लक्षणः) अव्यञ्जितं हर्षलक्षणं मुखरागादिहर्षलिङ्गं यस्य तथा भूतः सन् । अयि गौरि अयीति कोमलामन्त्रणे । इदं त्वत्सखीभाषितम् एवम् ? सत्यं किमित्यर्थः परिहासः केलिर्वा । "द्रवकेलिपरीहासाः" इत्यमरः । इति एवम् उमाम् अपृच्छत् पृष्टवान् ॥ ६२ ॥

टि०—**इङ्गितज्ञया**—इङ्गितं जानातीति इङ्गितज्ञा (उपपद तत्पु०) तया, जो (पार्वती के) मनोभाव को जानती थी । 'इङ्गित—आन्तरिक भाव । मल्लिनाथ ने सज्जन को उधृद्त किया है:—'इङ्गित हृद्गतो भावः' । **अगूढ-सद्भावम्**—न गूढः अगूढः (नञ् तत्पु०), अगूढः सद्भावो यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा, (अव्ययी०), 'अपने वास्तविक भावों को छिपाये विना' । अगूढ—न गूढः, √गूह् 'छिपाना' + क्त । सद्भाव—सुन्दर भाव, सदभिप्राय । **नैष्ठिक-सुन्दरः**—नैष्ठिकश्चासौ सुन्दरश्च (कर्म०); नैष्ठिक—निष्ठापर्यन्तं ब्रह्मचर्येण तिष्ठतीति; निष्ठा + ठञ् (= इक) (तदस्य ब्रह्मचर्यम् पा० ५.१.५७), जो जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा का पालन करता है । देखो, 'निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः ।' अमर ।

नैष्ठिक अथवा जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहनेवाला युवक गुरु के घर पर ही रहता है:—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ ।
तदभावेऽस्यतनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ याज्ञ० ४९.

अव्यञ्जित-हर्ष-लक्षणः—न व्यञ्जितम् अव्यञ्जितम् (नञ् तत्पु०), अव्यञ्जितं हर्षस्य लक्षण येनः (बहु०), जिसने हर्ष-रेखा प्रकट नहीं की थी। शिव को यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि पार्वती ने अपना हृदय मुझ पर लगाया है, परन्तु उन्होंने उस पर अपने आपको प्रकट नहीं किया। अपृच्छत्—√पृच्छ् के दो कर्म हैं 'उमाम्' और यह वाक्यांश 'अयि। इदम् एवम् अथवा परिहासः।' निम्नलिखित धातु द्विकर्मक हैं:—

दुह्याच् पच् दण्ड् रुधि चि ब्रू शासु जि मन्थ मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहकृष्वहाम् ॥

हिन्दी—पार्वती का अभिप्राय जाननेवाली उस (सखी) से इस प्रकार, वास्तविक भाव गुप्त न रख कर, निवेदन किया गया वह सुन्दर ब्रह्मचारी, हर्ष के चिह्न प्रकट किए बिना, उमा से पूछने लगा—"अरे ! यह बात ऐसे है वा हँसी है ?" [६२]

अथाग्र-हस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ
समर्पयन्ती स्फटिकाक्ष-मालिकाम् ।
कथञ्चिदद्रे स्तनया मिताक्षरं
चिर-व्यवस्थापित - वागभाषत ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अथ अद्रेः तनया मुकुलीकृताङ्गुलौ अग्र-हस्ते स्फटिकाक्ष-मालिकां समर्पयन्ती चिर-व्यवस्थापित-वाक् कथञ्चित् मिताक्षरम् अभाषत ।

वाच्यपरि०—....तनयया....समर्पयन्त्या चिर-व्यवस्थापित-वाचा.... अभाष्यत ।

श०—मुकुलीकृत—अञ्जलि-बद्ध । स्फटिक—स्फटिक पत्थर । अक्ष-मालिका—जपमाला । अद्रि—पर्वत । तनया—पुत्री । मिताक्षरम्—नपे-तुले अक्षर । चिर-व्यवस्थापित-वाक्—जिसने देर के बाद अपनी वाणी को निश्चित किया ।

मल्लि०—अथेति। अथ अनन्तरम् अद्रेः तनया पार्वती मुकुलीकृताङ्गुलौ सम्पुटीकृताङ्गुलौ अग्रश्चासौ हस्तश्चेति समानाधिकरणसमासः, "हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदात्।" (५. २. २०) इति वामनः, तस्मिन् अग्र-हस्ते। (स्फटिकाक्ष-मालिकाम्) स्फटिकानामक्षमालिकां जपमालिकाम् समर्पयन्ती आमुञ्चती कथञ्चित् महता कष्टेन चिर-व्यवस्थापित-वाक् एतेन लज्जोपरोधो व्यज्यते। मिताक्षरं परिमितवर्णं यथा तथा अभाषत बभाषे॥ ६३॥

टि०—अद्रेः तनया—हिमालय पर्वत की पुत्री, अर्थात् पार्वती। मुकुलीकृताङ्गुलौ—अमुकुलाः मुकुलाः कृता इति अमुकुलीकृतः, मुकुल+च्वि+कृताः (कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः पा० ५.४.५०); मुकुलीकृताः अङ्गुलयो यस्य सः (बहु०) तस्मिन्, जिसकी अगुलियाँ कली के रूप में बन्द थीं। अग्र-हस्ते—अग्रश्चासौ हस्तश्चेति (कर्म०), हाथ का अगला भाग। यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि अग्र और हस्त परस्पर समान नहीं है और इसलिए कर्मधारय नहीं हो सकता। परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह दोनों शब्द अवयव और अवयविन् के सम्बन्ध द्वारा एक समान हैं। वामन ने इस सूत्र द्वारा 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदात्' ऐसे रूप समझाये हैं। यदि यह षष्ठीतत्पुरुष लिया जाय तो रूप होगा 'हस्ताग्रम्'। एक मतानुसार ऐसे समास षष्ठीतत्पुरुष होते हैं और राजदन्तादि वर्ग में सम्मिलित किये गये हैं। अतएव समास का दूसरा शब्द पहला स्थान ग्रहण कर लेता है। स्फटिकाक्ष-मालिकाम्—स्फटिकानाम् अक्षमालिका (षष्ठीतत्पु०), 'स्फटिक पत्थरों की माला', ताम्। चिर-व्यवस्थापित-वाक्—चिरेण व्यवस्थापिता वाक् यथा (बहु०) सा, 'जिसने चिरकाल के पश्चात् अपनी वाणी को वश में किया'। इससे प्रतीत होता है कि बोलने से पहले पार्वती काफी देर तक रुकी रही। इससे यह भी स्पष्ट है कि उसका अपनी वाणी और लज्जा पर पूरा वश था। कन्यायें प्रायः पुरुष के सामने अपना प्रेम प्रकट करने में लजाती हैं। मिताक्षरम्—मितानि अक्षराणि यस्मिन् (बहु०) (कर्मणि) तद्यथा स्यात्तथा (अव्ययी०), 'नपे-तुले अक्षर'। अभाषत—√भाष् 'बोलना' लङ्, उत्तम पु० एक०।

हिन्दी—तब पर्वत-दुहिता (पार्वती) ने स्फटिक पत्थर की माला को अपने हाथ के अगले भाग पर, जिसकी अंगुलियाँ अध-खिले फूल के समान थीं, रखा और बड़े प्रयत्न से, चिरकाल में वक्तव्य को निश्चित कर, थोड़े अक्षरों में कहा। [६३]

यथा श्रुतं वेद-विदां वर ! त्वया
जनोऽयमुच्चैःपद - लङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्ति - साधनं ।
*मनोरथानामगतिर्न विद्यते ।। ६४ ।।**

अन्वयः—(हे) वेद-विदां वर ! त्वया यथा श्रुतम् अयं जनः उच्चैःपद-लङ्घनोत्सुकः इदं तपः तदवाप्ति-साधनं किल, मनोरथानाम् अगतिः न विद्यते ।

वाच्यपरि०—....त्वं श्रुतवान्, अनेन जनेन उच्चैःपद-लङ्घनोत्सुकेन (भूयते), अनेन तपसा तदवाप्ति-साधनेन....(भूयते),....अगत्या.... ।

श०—उत्सुक—लालायित । लङ्घन—प्राप्त करना (मूलार्थ 'आक्रमण करना, पार करना') । अवाप्ति—प्राप्ति । साधन—उपाय । अगति—विषय का अभाव, अगम्यता ।

मल्लि०—यथेति हे वेदविदां वर ! वैदिकश्रेष्ठ ! त्वया यथा श्रुतं सम्यक् श्रुतम् । श्रुतार्थमेवाऽऽह—अयं जनः स्वयमित्यर्थः । (उच्चैःपद-लङ्घनोत्सुकः) उच्चैःपदस्य शिवलाभरूपोन्नतस्थानस्य लङ्घने आक्रमणे उत्सुकः किमत्रायुक्तमित्यत्राऽऽह—इदं तपः (तदवाप्ति-साधनं) तदवाप्तेः तस्य उच्चैःपदस्य अवाप्तेः प्राप्तेः साधनम् । किल क्लिेत्यलीके । अति तुच्छत्वात् असाधकमेवेत्यर्थः । तर्हि त्यज्यतामित्याशङ्क्य दुराशा मां न मुञ्चतीत्याशयेन आह - मनोरथानां कामानाम् । अगतिः अविषयः न विद्यते । न हि स्वशक्तिपर्यालोचनया कामाः प्रवर्तन्त इति भावः ।।६४।।

टि०—वेद-विदाम्—वेदं विदन्तीति वेदविदः तेषाम्, वेद-विशारदों का । वर—सम्बोधन एक० 'श्रेष्ठ'; इस सम्बोधन द्वारा पार्वती शिव को, जो ब्रह्मचारी के वेष में थे, बुलाती है । त्वया यथा श्रुतम्—जैसा तुमने सुना है । तथा के बाद यथा शब्द जोड़ना चाहिए । यथा का अर्थ

होगा 'वस्तुतः'। 'त्वया यथा श्रुतम्' का अर्थ होगा 'जैसा कि तुमने ठीक सुना है'। इस अर्थ द्वारा यथा के पश्चात् तथा शब्द जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अयं जनः—इससे पार्वती की ओर संकेत है। उच्चैःपद-लङ्घनोत्सुकः—उच्चैः पदस्य लङ्घने उत्सुकः (तत्पु०), 'उच्च पद की प्राप्ति के लिए उत्सुक'। इससे उसका शिव के साथ मनोवाञ्छित विवाह का बोध होता है। 'लङ्घन' शब्द जिसका अर्थ है 'पार करना' यहाँ केवल 'प्राप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि पार्वती उस पद को प्राप्त हो जायगी, जिसे शिव ने प्राप्त कर रखा है। तदवाप्ति-साधनम्—तस्याः अवाप्तेः साधनम् (तत्पु०), उसके पाने का साधन। किल—झूठमूठ। देखो, मल्लिनाथ "किलेत्यलीके"; तप, इसकी प्राप्ति का साधन हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। पार्वती तप में अपना विश्वास खो चुकी थी। मनोरथानामगतिर्न विद्यते—अभिलाषा के लिए कोई भी पदार्थ अगोचर नहीं है। अभिलाषा किसी भी पदार्थ की प्राप्ति के लिए हो सकती है।

हिन्दी—हे वेदज्ञों में श्रेष्ठ! आपने ठीक सुना है। यह (तुच्छ) जन उच्च पद को प्राप्त करने में उत्सुक है। यह तप उसकी प्राप्ति का साधन कहा जाता है। मनोरथों का कोई अगम्य विषय (स्थान) नहीं होता। [६४]

अथाऽऽह वर्णी विदितो महेश्वर-
स्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यास-रतिं विचिन्त्य तं
तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे॥ ६५॥

अन्वयः—अथ वर्णी आह—महेश्वरः विदितः, त्वं पुनरेव तदर्थिनी वर्तसे, (अहम्) तम् अमङ्गलाभ्यास-रतिं विचिन्त्य तव अनुवृत्तिं कर्तुं न च उत्सहे।

वाच्यपरि०—....वर्णिना उच्यते, महेश्वरेण विदितेन (भूयते) त्वया....तदर्थिन्या वृत्यते, (मया)....उत्सह्यते।

श०—अमङ्गल—अशुभ। अभ्यास—आचार। रति—प्रीति। अनुवृत्ति—अनुमति, अनुसरण।

मल्लि०—अथेति। अथ वर्णी ब्रह्मचारी, "वर्णिनो ब्रह्मचारिणः" इत्यमरः। आह उवाच इत्यर्थः **'आहेति भूतार्थे लट्प्रयोगो भ्रान्तिमूलः' इत्याह वामनः।** किमित्याह—**महेश्वरः** महादेवः ममेति शेषः। **विदितः** मया ज्ञायत इत्यर्थः। **बुद्ध्यर्थत्वाद् वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः तद्योगात् षष्ठी** च। येन त्वं प्राक् भग्नमनोरथा कृतेति भावः पुनरेव त्वं तमीश्वरम् अर्थयसे। तदर्थिन्येव तत्कामैव प्रवर्तसे तत्प्रभावम् अनुभूयापीति भावः। अनुसरणे को दोषस्तत्राऽऽह—(अमङ्गलाभ्यास-रतिं) अमङ्गलाभ्यासे अमङ्गलाचारे रतिर्यस्य तं तथोक्तम्। तम् ईश्वरम्। विचिन्त्य विचार्य। तव अनुवृत्तिम् अनुसरणम्। कर्त्तुं न उत्सहे न अनुमन्तुं शक्नोमीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

टि०—आह—वामन के मतानुसार भूतकाल के अर्थ में आह का प्रयोग अशुद्ध है। देखो मल्लिनाथः—

' "आहेति भूतार्थे लट्प्रयोगो भ्रान्तिमूलः" इत्याह वामनः।'

महेश्वरः—महांश्चासौ ईश्वरः इति (कर्म०), महत् महा में बदल जाता है (आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः पा० ६.३.४६)। विदितः—ज्ञात, 'विदितः' के पश्चात् 'मया' शब्द जोड़ा जायगा। ब्रह्मचारी के कहने का तात्पर्य यह है कि वह शिव के अशुभ व्यवहारों से भली-भाँति परिचित था। उसे ज्ञात था कि किस प्रकार शिवजी ने काम को जला डाला था, किस प्रकार वे पर्वती को तपस्या के प्रति उदासीन थे, इत्यादि। अतः वह शिव के लिए तप करती हुई पार्वती को देखकर विस्मित हो रहा था। तदर्थिनी—अर्थोऽस्या अस्तीति अर्थिनी, तस्य अर्थिनी, उसके 'लिए अभिलाष करनेवाली'। अमङ्गलाभ्यास-रतिम्—न मङ्गलम् अमङ्गलम्, अमङ्गलस्य अभ्यासे रतिर्यस्य (बहु०) स तम्, 'उसे जो अशुभ क्रियायों में आनन्द अनुभव करता है'। 'अमङ्गल' शब्द द्वारा शिव का विभूति लगाना, कपाल धारण करना, तथा काम-दहन, और पार्वती की तपस्या के प्रति उदासीनता आदि क्रियाओं की ओर संकेत है। अनुवृत्तिम्—अनु+√वृत् 'अनुसरण करना, अनुमति देना'+क्तिन्, द्वितीया। नोत्सहे—'मैं साहस नहीं कर सकता।' काले ने निम्नलिखित पद्य पार्वती-परिणय से उद्धृत किया है:—

आलेपो भसितं विभूषितमहिर्वासः पितॄणां वने
वेतालाः परिचारकाः प्रतिदिनं वृत्तिश्च भिक्षामयी ।
इत्थं यस्य शुभेतराणि चरितान्याख्यान्ति सर्वे जना-
स्तस्मिन्मौग्ध्यवशान्मतिस्तव रुचिं बध्नाति किं ब्रूमहे ॥४.१२

हिन्दी—तब ब्रह्मचारी बोला 'मैं महादेव को जानता हूँ। फिर भी तुम उस की इच्छा करती हो। अशुभ कर्मों में प्रीति रखने वाले उस (शिव) का विचार करके मैं तुम्हारा अनुमोदन करने के लिए साहस नहीं कर सकता।" [६५]

अवस्तु-निर्बन्ध-परे कथं नु ते
करोऽयमामुक्त-विवाह-कौतुकः ।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना
सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—(हे) अवस्तु-निर्बन्ध-परे! आमुक्त-विवाह-कौतुकः ते अयं करः वलयीकृताहिना शम्भोः करेण तत्प्रथमावलम्बनं कथं नु सहिष्यते?

वाच्यपरि०....आमुक्त-विवाह-कौतुकेन....अनेन करेण....सहिष्यते ।

श०— अवस्तु—तुच्छ वस्तु । निर्बन्ध—हठ । विवाह-कौतुक—कंगना । आमुक्त—धारण किया हुआ । वलय—कड़ा । अहि—साँप । अवलम्बन—ग्रहण करना, पकड़ना ।

मल्लि०—अवस्त्विति । अवस्तुनि तुच्छवस्तुनि निर्बन्धः अभिनिवेशः परं प्रधानं यस्याः तस्याः । सम्बुद्धिः अवस्तु-निर्बन्ध-परे, पार्वति! आमुक्त-विवाह-कौतुकः आमुक्तम् आसञ्जितं विवाहे यत् कौतुकं हस्तसूत्रं तद् यस्य सः । ते अयं करः "कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले" इति शाश्वतः । वलयीकृताहिना भूषणीकृतसर्पेण । शम्भोः महादेवस्य । करेण करणभूतेन । (तत्प्रथमावलम्बनं) तदेव प्रथमं तत्प्रथमम् अपरिचितत्वात् अतिभयङ्करमिति भावः । तच्च तदवलम्बनं ग्रहणञ्चेति कथं नु सहिष्यते, न कथञ्चिदपि सहिष्यत इत्यर्थः । अग्रतो यद्भावि तद् दूरेऽवतिष्ठतां प्रथमं करग्रह एव दुःसह इति भावः ॥ ६६ ॥

टि०—अवस्तु-निर्बन्ध-परे—सम्बोधन एक०; न वस्तु अवस्तु

(नञ् तत्पु०), अवस्तुनि निर्बन्धः परः यस्या सा (बहु०), तत्सम्बुद्धौ, तुम जो एक तुच्छ वस्तु अथवा विषय पर अनुरक्त हो रही हो; अथवा तुम जो शिव पर हृदय न्योछावर किये हो और वह इसका अपात्र है। आमुक्त-विवाह-कौतुकः—आमुक्तं विवाहस्य कौतुकं यस्मिन् (बहु०) सः, वह जिसके (हाथ पर) 'विवाह का कंगना बँधा है'। यह 'करः' का विशेषण है। आमुक्त—आ+मुच्+क्त; √मुच् 'छोड़ना' का अर्थ 'आ' उपसर्ग के साथ बदल कर 'धारण करना' हो जाता है। कौतुक—विवाह का कंगना। इस अर्थ की पुष्टि के लिए मल्लिनाथ ने शाश्वत को उद्धृत किया है:—'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले'। वलयीकृताहिना—अवलयो वलयः कृत इति वलयीकृतः, वलयीकृतः अहिर्यस्मिन् (बहु०) स वलयीकृताहिः तेन, 'जिस के इर्द-गिर्द साँप कड़े के रूप में बाँधा गया है'। तत्प्रथमावलम्बनम्—तदेव प्रथमं तत्प्रथमम्, तत्प्रथमं च तदवलम्बनं तत्प्रथमावलम्बनम् (कर्म०), 'पहली बार पकड़ना'।

ब्रह्मचारी ने विवाह के समय शिव की विचित्र क्रियाओं और पार्वती की परम्परागत प्रवृत्तियों का अन्तर बताया है। अपने घर के रीतिरिवाजों के अनुसार पार्वती विवाह के समय अपनी कलाई पर कंगना बाँधेगी किन्तु शिव, जो असाधारण व्यवहारों में व्यस्त हैं, अपनी कलाई पर साँप बाँधेंगे। यही साँप उनके लिए विवाह के कंगने का काम देगा। जब शिव पार्वती का पाणिग्रहण करेंगे तब यह भयानक दृश्य उपस्थित होगा।

तस्योद्वाहनकाले च हा हा कर्तुं भविष्यति।
भणिकङ्कणसंयोगं यदा ते कङ्कणं भवेत्॥

हिन्दी—हे तुच्छ वस्तु पर अभिलाषा करनेवाली (पार्वति)! विवाह का कंगना बँधा हुआ तुम्हारा यह हाथ शिव के साँप लिपटे हाथ द्वारा पहली बार पकड़े जाने को कैसे सहन करेगा? [६६]

त्वमेव तावत् परिचिन्तय स्वयं
कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधू-दुकूलं कलहंस-लक्षणं
गजाजिनं शोणित-बिन्दु-वर्षि च॥ ६७॥

अन्वयः—त्वम् एव तावत् परिचिन्तय, कल-हंस लक्षणं वधू-दुकूलं शोणित-बिन्दु-वर्षि गजाजिनं च एते कदाचित् योगम् अर्हतः यदि ।

वाच्यपरि०—....त्वया ....परिचिन्त्यताम् ....एताभ्यां ...योगः अर्ह्यते... ।

श०—कलहंस—राजहंस । दुकूल—रेशमी वस्त्र । शोणित—रक्त । अजिन—खाल ।

मल्लि०—त्वमेवेति । हे गौरि ! त्वमेव स्वयम् आत्मना । तावत् इति मानार्थे । यावन्मात्रं विचारणीयं तावन्मात्रमित्यर्थः । इदमेव उदाहृतञ्च गणव्याख्याने । परिचिन्तय पर्यालोचय । किमिति ? कल-हंस-लक्षणं कलहंसचिह्नम् "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः । वध्वाः नवोढायाः दुकूलं वधू-दुकूलं "वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री" इति विश्वः । तथा (शोणित-बिन्दु-वर्षि) शोणितबिन्दून् वर्षतीति तथोक्तम् आर्द्रमित्यर्थः । गजाजिनञ्च कृत्तिवासश्च तत् पिनाकिन इत्याशयः । एते कदाचित् जातु अपि योगं सङ्गतिम् अर्हतः यदि अर्हतः कम् । एतत् त्वमेव परिचिन्तयेति पूर्वेणान्वयः । पाणिग्रहणे किल वधूवरयोः वस्त्रान्तग्रन्थिः क्रियते । कृत्तिवाससा पाणिपीडने तु दुकूलधारिण्याः तव कथं सङ्घटिष्यत इति भावः ॥ ६७ ॥

टि०—तावत्—तत् परिमाणमस्येति, पर्यन्त; इसका अर्थ 'शीघ्र, सर्व प्रथम' भी है । यह शब्द इस प्रकार बना है:—तत् + 'वतुप्'; तत् के बदले ता हो गया है (आ सर्वनाम्नः पा० ६. ३. ९१)। प्राचीन वैयाकरणों के मतानुसार यह शब्द तत् सर्वनाम को डावतु प्रत्यय जोड़कर बना है ।

कल-हंस-लक्षणम्—कलहंसवत् लक्षणं यस्य (बहु०) तत्, 'हंस के चिह्नों से युक्त' अथवा 'जिस पर हंस अङ्कित है' । यह 'वधू-दुकूलम्' का विशेषण है । वधू-दुकूलम्—वध्वाः दुकूलम् (तत्पु०), 'नई विवाहिता का रेशमी वस्त्र' । शोणित-बिन्दु-वर्षि—शोणितस्य बिन्दून् वर्षतीति तत्, (तत्पु०), 'रक्त की बूँदे बरसानेवाला' । गजाजिनम्—गजस्य अजिनम् (तत्पु०), 'गज की खाल' । यहाँ गज से तात्पर्य गजासुर से है, जिसे शिव ने मारा था । गजासुर के शरीर से उसकी खाल खेंचकर शिव

ने नृत्य किया था। 'शोणित' से तात्पर्य रक्त-बिन्दुओं से है। पार्वती का पाणिग्रहण करने से पहले वह रक्त अवश्य सूख गया होगा। यह अच्छा होता यदि ब्रह्मचारी ने 'रक्त-बिन्दुओं की वर्षा करनेवाला' के बदले 'रक्त-बिन्दुओं से सना' कहा होता। ब्रह्मचारी पार्वती को शिव के साथ विवाह करने के निश्चय से हटाने के विचार से ऐसा कहता है क्योंकि दोनों में असामानता है। कहाँ पार्वती का रेशमी वस्त्र और कहाँ शिव का गज-चर्म ! रेशमी वस्त्र से धनाढ्यता और चर्म से निर्धनता का बोध होता है। इन दोनों में भला कैसा विवाह-सम्बन्ध ? देखो,

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥

मल्लिनाथ के अनुसार ब्रह्मचारी के कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह के समय कन्या का रेशमी वस्त्र गज-चर्म के साथ कैसे बाँधा जा सकता है ? अतः दोनों का विवाह एक सामान न होने के कारण असम्भव है।

हिन्दी—तुम ही आप इतना तो पहले विचार करो कि नव-विवाहिता वधू का राजहंस से अङ्कित रेशमी वस्त्र और रक्त-बिन्दुओं की वर्षा करनेवाला (शिव का) गज-चर्म ये दोनों कभी मिलाप के योग्य हैं ? [६७]

चतुष्क - पुष्प - प्रकरावकीर्णयोः
परोऽपि को नाम तवानुमन्यते।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयो-
र्विकीर्ण - केशासु परेत-भूमिषु ॥ ६८ ॥

अन्वयः—चतुष्क-पुष्प-प्रकरावकीर्णयोः तव पादयोः अलक्तकाङ्कानि पदानि विकीर्ण-केशासु परेत-भूमिषु परः अपि कः नाम अनुमन्यते ?

वाच्यपरि०....परेण....केन....अनुमन्यन्ते ?

श०—चतुष्क—गृह-विशेष। प्रकर—ढेर। अवकीर्ण—रखे गये। विकीर्ण—बिखरे। अलक्तक—लाक्षारस। परेत-भूमि—श्मशान-भूमि।

मल्लि०—चतुष्केति। (चतुष्क-पुष्प-प्रकरावकीर्णयोः) चतुष्के गृहविशेषे यः पुष्पप्रकरः, तत्र अवकीर्णयोः न्यस्तयोः कुसुमास्तृतदिव्य-

भवनभूसञ्चारोचितयोरित्यर्थः । तव पादयोः अलक्तकाङ्कानि लाक्षारञ्जितानि पदानि पादाकाराणि पादन्यासचिह्नानि, "पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः । पादतच्चिह्नयोः" इति विश्वः । विकीर्णाः विक्षिप्ताः केशाः शवशिरोरुहाः यासु विकीर्ण-केशासु, "अतत्स्थं तत्र दृष्टञ्चेति वचनात्" "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् असंयोगोपधात्" इति विकल्पात् न ङीष् । परेत-भूमिषु प्रेतभूमिषु श्मशानेषु इत्यर्थः । परोऽपि शत्रुरपि को नाम अनुमन्यते न कोऽपीत्यर्थः । नामेति कुत्सायाम् । पिनाकपाणिपाणिग्रहणे तस्य परेतभूसञ्चारित्वेन साहचर्यात् तवापि तत्र सञ्चारोऽवश्यम्भावीति भावः ॥ ६८ ॥

टि०—चतुष्क-पुष्प-प्रकरावकीर्णयोः—चतुष्के पुष्पाणां प्रकरे अवकीर्णयोः (तत्पु०), 'चौकोर कमरे में फूलों के ढेर पर रखे गये (पैरों) का'; चतुष्क—चतुर + कन् , (संख्य याः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु पा० ५. १. ५८) । पुष्प-प्रकर—फूलों का ढेर; पार्वती चौकोर कमरे के फर्श पर, जो फूलों से भरा होता था, चला करती थीं । अलक्तकाङ्कानि—अलक्तक के चिह्नों से युक्त; पार्वती के पैरों पर अलक्तक लगाई जाती थी । विकीर्ण-केशासु—विकीर्णाः केशाः यासु (बहु०) तासु, '(मृतकों के) बिखरे बालोंवाली (भूमि पर)' । यह बात समझ में नहीं आती कि श्मशान-भूमि पर बाल क्यों बिखरे पड़े थे, क्योंकि शव बालों समेत जला दिया जाता है । अथवा इससे कदाचित् उस रीति की ओर संकेत हो जो कालिदास के समय में प्रचलित होगी कि मृतक के सम्बन्धी अपना सिर घर में न मुँडाकर श्मशान में मुँडाते थे । परेत-भूमिषु—परेतानां भूमिषु (तत्पु०) । परेत—परं लोकम् इतः गत इति, परं दूरम् इत इति वा, 'जो व्यक्ति दूसरे लोक को चला गया है' । अथवा 'जो व्यक्ति दूर की यात्रा पर चला गया है' । परः—शत्रु, देखो,

"अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" अमर

ब्रह्मचारी के कहने का तात्पर्य यह है कि पार्वती के शत्रु भी यह नहीं चाहेंगे कि वह पार्वती, जो फूलों के ढेरोंवाले फर्श पर चलती थी, बालों से भरी श्मशान-भूमि पर चले ।

हिन्दी—चौकोर कमरे (अथवा चौकोर आँगन) में पुष्पों के ढेरों पर चलने योग्य तुम्हारे पैरों की मुहावर से अङ्कित पद-चिह्न का बिखरे हुये केशोंवाली श्मशान-भूमि पर पड़ना कौन शत्रु भी अनुमोदन करेगा ? [६८]

अयुक्त-रूपं किमतः परं वद
त्रिनेत्र-वक्षः सुलभं तवापि यत् ।
स्तन-द्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनास्पदे
पदं चिता-भस्म-रजः करिष्यति ॥ ६९ ॥

अन्वयः—त्रिनेत्र-वक्षः तव सुलभम् अपि अतः परम् अयुक्त-रूपं किम् ? वद, यत् हरिचन्दनास्पदे अस्मिन् स्तन-द्वये चिता-भस्म-रजः पदं करिष्यति ।

वाच्यपरि०—त्रिनेत्र-वक्षसा.... सुलभेन.... (भूयते), ...परेण अयुक्त-रूपेण केन (भूयते), उच्यताम् ....चिता-भस्म-रजसा ....करिष्यते ।

श०—अयुक्त-रूप—अत्यन्त अयुक्त, अनुपयुक्त । त्रिनेत्र—शिव, त्र्यम्बक । आस्पद—स्थान ।

मल्लि०—अयुक्तेति । त्रिनेत्र-वक्षः त्र्यम्बकालिङ्गनमित्यर्थः । तव तत्सम्बन्धितया सुलभम् अपि सुप्रापञ्च भवतीति शेषः । तवेति शेषे षष्ठी, "न लोकाव्यय" इत्यादिना कृद्योगलक्षणषष्ठ्या निषेधात् । अतः परम् अस्मात् त्रिनेत्रवक्षोलाभात् अन्यत् अयुक्त-रूपम् अत्यन्तायुक्तं किं वद, न किञ्चिदित्यर्थः । "प्रशंसायां रूपप्" इति रूपप् प्रत्ययः । कुतः । यत् यस्मात् कारणात् हरिचन्दनास्पदे हरिचन्दनस्य आस्पदे स्थानभूते । अस्मिन् स्तन-द्वये (चिता-भस्म-रजः) चिताभस्म श्मशानभस्म तदेव रजश्चूर्णं कर्तृ, पदं करिष्यति पदं निधास्यति, भर्तुः भवस्य भस्माङ्ग-रागादिति भावः ॥६९॥

टि०—अयुक्त-रूपम्—अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम् (युक्त+रूपप्) न युक्तरूपमिति अयुक्तरूपम् (नञ् तत्पु०), 'सर्वथा अनुपयुक्त' । अथवा न युक्तम् अयुक्तम्, प्रशस्तम् अयुक्तम् अयुक्तरूपम्, 'अत्यन्त अनुचित' । रूपप् प्रत्यय अधिकता अथवा प्रशंसा के अर्थ में जोड़ा जाता है । (प्रशंसायां रूपप् पा० ५. ३. ६६) ।

त्रिनेत्र-वक्षः सुलभम्—त्रीणि नेत्राणि यस्य स त्रिनेत्रः (बहु०), त्रिनेत्रस्य वक्षः त्रिनेत्रवक्षः (तत्पु०), तत्र सुलभम् (तत्पु०), 'शिव की छाती पर सहज में प्राप्त होनेवाले'। यह 'चिताभस्मरजः' का विशेषण है। मल्लिनाथ ने वाक्य-रचना इस प्रकार की है:—त्रिनेत्रवक्षः तत्र अपि सुलभम्, अतः परम् अयुक्तरूपं किम् ? 'शिव का आलिंगन जो तुम्हें सहज में ही प्राप्त होगा, उससे बढ़कर, क्या अधिक अनुपयुक्त होगा ? इसमें त्रिनेत्रवक्षः सुलभम् से पृथक् होगा। **चिता-भस्म-रजः**—चिताया भस्म एव रजः (षष्ठी तत्पु०), 'चिता की भस्म के कण'। शिव का शरीर सदैव चिता की भस्म-रज से लिप्त कहा जाता है। **हरिचन्दनास्पदे**—हरिचन्दनस्य आस्पदं तस्मिन्, 'चन्दन-लेप के योग्य स्थान'। हरिचन्दन का भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न वर्णन किया है। देखो,

> **घृष्टं च तुलसीकाष्ठं कर्पूरागुरुयोगतः ।**
> **अथवा केशरैर्योज्यं हरिचन्दनमुच्यते ॥ पद्मपुराण**
> हरिचन्दनमस्त्री ख्यात् त्रिदशानां महीरुहे ।
> नपुंसकं तु गोशीर्षे ज्योत्स्नाकुङ्कुमयोरपि ॥ मेदिनी

हरिचन्दन तथा चिता के भस्मरज में भारी असामानता है। शिव की भस्म-रज से भरी छाती पार्वती की हरिचन्दन से अलंकृत छाती के सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित होना अत्यन्त अनुचित है।

हिन्दी—(तुम ही) बताओ, महादेव का वक्षःस्थल तुम्हें सुलभ होने पर भी इससे अधिक अनुचित क्या होगा कि हरिचन्दन के (लेप के) योग्य तुम्हारे इस स्तन-युगल पर चिता के भस्म-कण स्थान पा लेंगे ? [६९]

> *इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना*
> *यदूढया वारण-राज-हार्यया ।*
> *विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया*
> *महाजनः स्मेर-मुखो भविष्यति ॥ ७० ॥*

अन्वयः—इयं च ते पुरतः अन्या विडम्बना ऊढया वारणराज

हार्यया त्वया अधिष्ठितं वृद्धोक्षं विलोक्य महाजनः स्मेर-मुखः भविष्यति (इति) यत् ।

वाच्यपरि०—अनया....अन्यया विडम्बनया (भूयते)....महाजनेन स्मेर-मुखेन भविष्यते....येन (भविष्यते) ।

श०—विडम्बना—परिहास । ऊढा—विवाहिता । वारण—हाथी । अधिष्ठित—आरूढ़ । वृद्धोक्ष—(शिव) का बूढ़ा बैल । महाजन—प्रतिष्ठित व्यक्ति । स्मेर—मुस्कान ।

मल्लि०—इयमिति । इयं च ते तव पुरतः आदौ एव अन्या विडम्बना परिहास इत्यर्थः । का सेत्यत्राऽऽह—ऊढया परिणीतया, वहेः कर्मणि क्तः । वारण-राज-हार्यया गजेन्द्रवाह्यया । त्वया अधिष्ठितम् आरूढं वृद्धमुक्षाणं वृद्धोक्षम् । 'अचतुरेत्यादिना निपातः' । विलोक्य महाजनः साधुजनः स्मेर-मुखः स्मितमुखः भविष्यति उपहसिष्यति इति यत्, इयमिति पूर्वेण सम्बन्धः । स्मेरेति 'नमिकम्पिस्म्यजस' इत्यादिना र-प्रत्ययः ॥ ७० ॥

टि०—पुरतः—पुर+तस्, 'सर्व प्रथम' । विडम्बना=वञ्चना—धोखा, परन्तु यहाँ यह शब्द 'परिहास, तिरस्कार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ऊढया—√वह 'ले जाना'+क्त+टाप्, तृतीया एक० । यहाँ पर क्तान्त का प्रयोग विवाह के अर्थ में हुआ है । वारण-राज-हार्यया—वारणानां राजा इति वारणराजः (तत्पु०) तेन हर्तुं योग्या, 'ऐरावत पर चढ़ने के योग्य', तया । पार्वती की पदवी के लिए यह आवश्यक था कि वह विवाह के उपरान्त पति-गृह जाते समय गजराज पर चढ़कर जाय । परन्तु हाथी के बदले बूढ़े बैल पर बैठी वह अपने आपको लोगों से उनकी हंसी-ठट्ठे का कारण बनायेगी । वृद्धोक्षम्—वृद्धश्चासौ उक्षेति वृद्धोक्षः (कर्म०), तम्; कर्मधारय समास के अन्त में उक्षन् शब्द उक्ष में बदल जाता है । (जातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः पा० ५. ४. ७७) । इससे वर के बुढ़ापे का भी बोध होता है । अधिष्ठितम्—अधि+√स्था+क्त; अधि उपसर्ग के साथ √स्था द्वितीया विभक्ति ग्रहण करती है । (अधि-शीङ्स्थासां कर्म पा० १.४.४६) । महाजनः—महांश्चासौ जनः (कर्म०),

बड़ा आदमी; मल्लिनाथ के अनुसार इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठित व्यक्ति'। देखो, **न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नैवोन्नतिमाजगाम, शिशु० ३. २८.**

स्मेर-मुखः—स्मेरं मुखं यस्य (बहु०) सः, 'मुस्कराते मुँहवाला'।

हिन्दी—और यह सर्व-प्रथम एक और हँसी होगी कि विवाह हो जाने के अनन्तर गज-राज पर चढ़ने के योग्य तुम्हें (शिव के) वृद्ध बैल पर चढ़े देखकर सज्जन मुसकरायँगे। [७०]

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागम-प्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्र-कौमुदी ॥ ७१ ॥

अन्वयः—पिनाकिनः समागम-प्रार्थनया सम्प्रति द्वयं शोचनीयतां गतम्, सा कान्तिमती कलावतः कला च अस्य लोकस्य नेत्र-कौमुदी त्वं च।

वाच्यपरि०....द्वयेन शोचनीयता गता, तया कान्तिमत्या....कलया नेत्र-कौमुद्या त्वया....।

श०—**कपालिन्**—कपालधारी शिव। **समागम**—भेंट। **कलावान्**—चन्द्रमा। **कौमुदी**—चाँदनी। **शोचनीयता**—शोचनीय दशा।

मल्लि०—**द्वयमिति**। **पिनाकिनः** ईश्वरस्य **समागम-प्रार्थनया** प्राप्तिकामनया, क्रियमाणया इति शेषः। **सम्प्रति द्वयं शोचनीयतां** शोच्यत्वं **गतम्**। किं तदाह—**सा** प्रागेव हरिशिरोगता। अत्र सेति प्रसिद्धार्थत्वात् न यच्छब्दापेक्षा। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—"प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यदुपादानं नापेक्षते" इति। **कान्तिमती** नित्ययोगे मतुप्। **कलावतः** चन्द्रस्य **कला** षोडशो भागश्च। **अस्य लोकस्य नेत्र-कौमुदी** नेत्रानन्दिनीत्यर्थः। **त्वं च**। कान्तिमतीत्वनेत्रकौमुदीत्वविशेषणयोरुभयत्रापि अन्वयः। प्रागेकैव शोच्या, सम्प्रति तु त्वमप्यपरेति द्वयं शोच्यमिति पिण्डितार्थः। शोच्यत्वञ्च निकृष्टाश्रयणादिति भावः ॥ ७१ ॥

टि०—**कपालिनः**—कपालम् अस्यास्तीति कपाली (कपाल+इनि), तस्य, 'कपालधारी शिव के'। इससे शिव के विचित्र स्वभाव का बोध होता है। यह पाठ 'पिनाकिनः' से अच्छा है। देखो,

'द्वयं गतमित्यादौ पिनाकादिपदवैलक्षण्येण किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ।' मम्मट ।

समागम-प्रार्थनया—समागमस्य प्रार्थना तया (तत्पु०), '(शिव के साथ) भेंट करने की तुम्हारी इच्छा से' । कलावतः—प्रशस्ताः कलाः सन्ति अस्येति कलावान्', तस्य, (कला + मतुप्), 'श्रेष्ठ कलाओं से युक्त चन्द्रमा का' । कला को प्रशंसा के अर्थ में मतुप् प्रत्यय जोड़ा गया है । देखो 'भूमिनिन्दाप्रशंसायां नित्ययोगेऽतिशायने' । सा—वह जो प्रसिद्ध है । तद् का यहाँ प्रयोग परिचय के अर्थ में हुआ है, अतः इससे पहले यद् की आवश्यकता नहीं । देखो,

'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यदुपादानं नापेक्षते ।' मम्मट

नेत्र-कौमुदी....नेत्रयोः कौमुदी (तत्पु०), आँखों के लिए चाँदनी', अर्थात् आँखों के लिए ऐसे सुखदायी जैसे चन्द्र-कला होती है । देखो,

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे' उत्तर० ३. २६.

काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में यह पद्य 'अक्रमत्व' का उदाहरण दिया गया है । यहाँ च को त्वं के बाद में होना चाहिए था न कि लोकस्य के बाद में । देखो, 'अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः' साहित्यदर्पण ।

हिन्दी—महादेव के साथ समागम की इच्छा से अब दो पदार्थ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हुए हैं—प्रसिद्ध चन्द्रमा की वह दीप्तिमती कला और इस लोक की नेत्र-ज्योत्स्ना तुम । [७१]

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य जन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद् बाल-मृगाक्षि ! मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥

अन्वयः—वपुः विरूपाक्षम्, अलक्ष्य-जन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितम्, (हे) बाल-मृगाक्षि ! वरेषु यत् मृग्यते तत् त्रिलोचने व्यस्तम् अपि अस्ति किम् ?

वाच्यपरि०—...वपुषा विरूपाक्षेण (भूयते), अलक्ष्य-जन्मतया (भूयते)....दिगम्बरत्वं निवेदितवत्,....मृगयन्ते, तेन....व्यस्तेन...भूयते....।

श०—विरूपाक्ष—विकृत (कुरूप) नेत्रधारी । अलक्ष्य-जन्मता—अज्ञात जन्म का होना । दिगम्बरत्व—दिशायों का ही वस्त्र होना, सर्वथा नंगा होना । वसु—धन । व्यस्त—एक-एक करके, अलग-अलग ।

मल्लि०—"कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥"

इति लोकानामाभाषणम् । तत्र किञ्चिदपि नास्तीत्याह—वपुरिति । वपुः शरीरम् । तावदस्य विरूपाणि विकृतरूपाणि अक्षीणि नेत्राणि यस्य तत् विरूपाक्षम् । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् इति षच्प्रत्ययः । वैरूप्यञ्च त्रिनेत्रत्वादिति क्षीरस्वामी । अतो न सौन्दर्यवार्ताऽपीत्यर्थः । (अलक्ष्य-जन्मता) अलक्ष्यम् अज्ञातं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता, कुलमपि न ज्ञायते इत्यर्थः । "अलक्षिता जनिः" इति पाठे जनिः उत्पत्तिः अलक्षिता न ज्ञाता । "जनिरुत्पत्तिरुद्भवः" इत्यमरः । वसु वित्तम् । दिगम्बरत्वेन एव निवेदितम्, नास्तीति ज्ञापितम् इत्यर्थः । यदि वित्तं भवति तदा कथं दिगम्बरो भवति, अतो ज्ञेयं निर्धनोऽयमिति । किंबहुना, हे बाल-मृगाक्षि पार्वति ! वरेषु वोढृषु, "वरो जामातृवोढारौ" इति विश्वः । यत् रूपवित्तादिकं मृग्यते कन्यातद्बन्धुभिरन्विष्यते तत् त्रिलोचने त्र्यम्बके व्यस्तम् एकम् अपि समस्तं मा भूदिति भावः । अस्ति किम् । नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

टि०—विरूपाक्षम्—विरूपाणि अक्षीणि यस्मिन् (बहु०), तत्, 'जिसके कुरूप नेत्र हैं' ; अथवा विरूपमक्षि यस्मिन्, 'विकृत नेत्र से युक्त' । पिछला विग्रह अच्छा है क्योंकि इससे शिव के केवल एक ही विकृत नेत्र की ओर संकेत है जो प्रायः बन्द रहता है, परन्तु प्रलय-काल पर खुलकर भयंकर संहार करता है । इस विशेषण द्वारा शिव के शरीर की कुरूपता का बोध होता है । शारीरिक शोभा के कारण ही कन्या वर को वरती है (कन्या वरयते रूपम्) । अलक्ष्य-जन्मता—न लक्ष्यं (लक्ष+यत्) अलक्ष्यम् (नञ् तत्पु०), अलक्ष्यं जन्म यस्य स अलक्ष्यजन्मा, तस्य भावः अलक्ष्यजन्मता, 'अज्ञात जन्म का होना' । कन्या-पक्ष के लोग वर की कुलीनता के लिए ध्यान रखते हैं । वर की कुलीनता होने पर वे प्रसन्न

होते हैं (बान्धवाः कुलमिच्छन्ति)। किन्तु शिव के माता-पिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। 'अलक्ष्यजन्मता' की रचना दूषित है। (अविमृष्ट-विधेयांशो दोषः)। यहाँ जन्म कर्त्ता है, (अर्थात् जन्मता अनुवाद्य है) और जो विधेय है वह जन्म का न जानना है (अर्थात् अलक्ष्य विधेय है)। किन्तु यह विधेय, क्योंकि यह अलक्ष्यजन्मता समास का भाग है, अतः अप्रधान बन गया है। दिगम्बरत्वेन—दिश एव अम्बराणि यस्य (बहु०) सः दिगम्बरस्तस्य भावः दिगम्बरत्वम्, तेन, 'नंगेपन के कारण से'। शिव को केवल गज-चर्म पहने बताया गया है। इससे उनकी निर्धनता विदित होती है और इसी कारण वे पार्वती के लिए उपयुक्त वर सिद्ध नहीं होते। बाल-मृगाक्षि—बालश्चासौ मृग इति बालमृगः (कर्म०) तस्य अक्षिणी (तत्पु०), तादृशी अक्षिणी यस्याः (बहु०) सा तत्सम्बुद्धौ। यहाँ दूसरे अक्ष शब्द का लोप हो गया है जैसा कि 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' का आदेश है। ऐसे समासों में शब्द यदि सप्तमी विभक्ति में संज्ञा अथवा तरतम्य सूचक संज्ञा के बाद हो तो उसका लोप हो जाता है। वामन तथ भट्टोजि आदि वैयाकरणों ने इस वार्त्तिक को निरर्थक समझकर छोड़ दिया है। मृग्यते—कर्मवाच्य लट् प्र० पु० एक० 'ढूँढ़ा जाता है'। त्रिलोचने—त्रीणि लोचनानि यस्य (बहु०) सः त्रिलोचनः, तस्मिन्। व्यस्तम्—वि+√अस् 'फेंकना' +क्त। सुन्दरता, कुलीनता तथा धनाढ्यता यह तीनों ही आदर्श वर के लिए आवश्यक योग्यताएँ हैं। देखो,

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता कुलम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥

हिन्दी—उनका शरीर कुरूप नेत्रों से युक्त है, जन्म अज्ञात है, धन नग्नता से प्रत्यक्ष है। हे बाल-मृगनयने ! जो (रूप-धन आदि) (वर में) ढूँढ़ा जाता है, वह क्या शिव में एक भी है ? [७२]

निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः
क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्य-लक्षणा।
अपेक्ष्यते साधु-जनेन वैदिकी
श्मशान-शूलस्य न यूप-सत्क्रिया॥ ७३॥

अन्वयः—अस्मात् असदीप्सितात् मनः निवर्तय, तद्विधः क्व ? पुण्य-लक्षणा त्वं च क्व ? साधु-जनेन श्मशान-शूलस्य वैदिकी यूप-सत्क्रिया न अपेक्ष्यते ।

वाच्यपरि०—....निवर्त्यताम् । तद्विधेन....(भूयते), पुण्य-लक्षणया त्वया....(भूयते); साधु-जनः....वैदिकी यूप-सत्क्रियां न अपेक्षते ।

श०—**असत्**—अनिष्ट । **श्मशान-शूल**—श्मशान-भूमि पर गाड़ी गई सूली । **वैदिकी**—वेदोक्त । **यूप-सत्क्रिया**—यज्ञ में बलि के लिए पशु के बाँधने के खूँटे का संस्कार ।

मल्लि०—निवर्तयेति । **अस्मात् असदीप्सितात्** अनिष्टमनोरथात् । **मनः निवर्तय** निवारय (**तद्विधः**) सा पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथोक्तः अमङ्गलशील इत्यर्थः, **क्व** ? महदन्तरमित्यर्थः । **पुण्यलक्षणा** प्रशस्त-भाग्यचिह्ना **त्वं च क्व** ? अतो न तव अयमर्ह इत्यर्थः । तथाहि—**साधु-जनेन** "साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्" इति विश्वः । **श्मशान-शूलस्य** श्मशानभूमिनिखातस्य मध्यशङ्कोः । **वैदिकी** वेदोक्ता यूपो नाम पशुबन्धनसाधनभूतः संस्कृतदारुविशेषः, तस्य सत्क्रिया प्रोक्षणा-भ्युक्षणादिसंस्कारः । **यूप-सत्क्रिया न अपेक्ष्यते** नेष्यते । यथा श्मशान-शूले यूपसत्क्रिया न क्रियते तथा त्वमपि तस्मै न घटसे इति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

टि०—**असदीप्सितात्**—न सत् असत् (नञ् तत्पु०), असच्च तदीप्सितञ्चेति असदीप्सितम् (कर्म०), तस्मात्, 'अनिष्ट मनोरथ से' । जिससे किसी को रोका जाता है उसके लिए पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है (वारणार्थानामीप्सितः पा० १. ४. २७) । **क्व तद्विधः आदि** । दो क्व द्वारा दोनों में भारी अन्तर प्रकट होता है । देखो पृष्ठ ३० । कवि ने यहाँ यज्ञ के यूप तथा श्मशान-भूमि के डण्डे की तुलना करके दोनों में भारी अन्तर दिखाया है । **साधु-जनेन**—साधुश्चासौ जन इति स साधुजनः (कर्म०) तेन, 'सज्जन द्वारा' । **वैदिकी**—वेद+ठञ् (=इक)+ ङीप्, 'वेदोक्त' । **यूप-सत्क्रिया**—यूपस्य सत्क्रिया (तत्पु०), यज्ञीय यूप (पशु बाँधने का खूँटा) का संस्कार । इस पद्य में शिव की श्मशान-

भूमि के फाँसी के खूँटे से तुलना की गई है और इसलिए पार्वती को उनसे मन हटाकर किसी और पर लगाने को कहा गया है। देखो,

तत्परित्यज्य गिरिशमुपेन्द्रं वा शचीपतिम्।
वरय त्वं विशालाक्षि! वरयोग्यौ तु तौ तव॥ शिवपुराण

श्मशान-शूलस्य—श्मशान भूमि पर फाँसी के लिए गाड़ी गई सूली का।

हिन्दी—इस अनिष्ट मनोरथ से मन हटालो, कहाँ उस प्रकार का वह (अमङ्गलकारी शिव) और कहाँ शुभ-लक्षणों से युक्त तुम! सज्जन लोग श्मशान-भूमि के दण्ड की यज्ञीय-दण्ड के वेदोक्त संस्कार की इच्छा नहीं करते। [७३]

इति द्विजातौ प्रतिकूल-वादिनि
प्रवेपमानाधर - लक्ष्य - कोपया।
विकुञ्चित - भ्रूलतमाहिते तया
विलोचने तिर्यगुपान्त-लोहिते॥ ७४॥

अन्वयः—द्विजातौ इति प्रतिकूल-वादिनि (सति) प्रवेपमानाधर-लक्ष्य-कोपया तया उपान्त-लोहिते विलोचने विकुञ्चित-भ्रूलतं तिर्यक् आहिते।

वाच्यपरि०—....प्रवेपमानाधर-लक्ष्य-कोपा सा...आहितवती।

श०—प्रतिकूल—विपरीत। प्रवेपमान—काँप रहा, चञ्चल। लक्ष्य—प्रकट। विकुञ्चित—टेढ़ा। भ्रूलता—भ्रू रूपी लता। उपान्त—कोआ। लोहित—लाल। आहित—स्थापित की, डाली।

मल्लि०—इतीति। इति एवं प्रकारेण द्विजातौ द्विजे प्रतिकूल-वादिनि सति। (प्रवेपमानाधर-लक्ष्य-कोपया) प्रवेपमाणेन चञ्चलेन अधरेण अधरोष्ठेन लक्ष्यः अनुमेयः कोपः क्रोधः यस्याः तथोक्तया तया। पार्वत्या उपान्त-लोहिते प्रान्तरक्ते विलोचने (विकुञ्चित-भ्रूलतं) विकुञ्चिते कुटिलिते भ्रूलते यस्मिन् तत् तथा सभ्रूभङ्गमित्यर्थः। तिर्यक साचि आहिते निहिते अनादरात् तिर्यगैक्ष्यतेत्यर्थः॥ ७४॥

टि०—द्विजातौ—द्वे जाती यस्य (बहु०) सः द्विजातिः, तस्मिन्,

देखो पृष्ठ ८४। प्रतिकूल-वादिनि—प्रतिकूलं वदतीति प्रतिकूलवादिन् तस्मिन्, '(उसकी इच्छा के) विपरीत बोलने पर'। प्रवेपमानाधर-लक्ष्य-कोपया—प्रवेपमानेन अधरेण लक्ष्यः कोपो यस्याः (बहु०), 'वह जिसका क्रोध काँप रहे निचले होंठ से प्रकट हो रहा है', तया। उपान्त-लोहिते—उपान्तयोः लोहिते (तत्पु०), 'कोओं के लाल हो जाने पर'। विकुञ्चित-भ्रू-लतम्—विकुञ्चिते भ्रूलते यस्मिन् (बहु०) तद् विकुञ्चित-भ्रूलतम्, वह ढंग जिससे लता रूपी भौंहें टेढ़ी हो रही थीं। तिर्यगाहिते—'तिरछी (नज़र) डाली'। निचले होंठ का काँपना, कोओं का लाल होना, तथा भौंहों का टेढ़ा हो जाना, यह सब उस क्रोध के सूचक हैं जो पार्वती की अभिलाषा के विरुद्ध ब्रह्मचारी के बोलने पर उसे उत्पन्न हुआ है।

हिन्दी—इस प्रकार ब्राह्मण के विपरीत भाषण करने पर पार्वती ने, जिसका क्रोध काँप रहे अधरोष्ठ से प्रकट हो रहा था, भौंवें चढ़ाकर, कोओं को लाल किये, तिरछी नज़र डाली। [७४]

उवाच चैनं परमार्थतो हरं
न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोक-सामान्यमचिन्त्य-हेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ ७५ ॥*

अन्वयः—एनम् उवाच च परमार्थतः हरं न वेत्सि नूनं, यतः माम् एवम् आत्थ, मन्दाः अलोक-सामान्यम् अचिन्त्य-हेतुकं महात्मनां चरितं द्विषन्ति।

वाच्यपरि०—एषः उच्ये च, ...हरः...विद्यते...., ...अहम् ....ऊचे, मन्दैः...द्विष्यते।

श०—परमार्थतः—वस्तुतः। अचिन्त्य—जो जाना न जा सके। हेतु—कारण। द्विषन्ति—द्वेष करते हैं।

मल्लि०—उवाचेति। अथ एनं ब्रह्मचारिणम् उवाच च। किमिति? परमार्थतः तत्त्वतः हरं न वेत्सि न जानासि नूनम्। कुतः? यतः माम् एवम्। उक्तया रीत्या आत्थ ब्रवीषि। 'ब्रुवः पञ्चानामादितः' इति रूपसिद्धिः। अज्ञानात् एवायं शिवद्वेषस्तव इत्याशयेनाऽऽह—मन्दाः मूढाः। "मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः" इत्यमरः। लोकसामान्यम् इतरजन-

साधारणं न भवतीति अलोक-सामान्यम् । अचिन्त्य-हेतुकं दुर्बोधम् महात्मनां चरितं द्विषन्ति हेत्वपरिज्ञानाद् दूषयन्ति । विद्वांसस्तु कोऽप्यत्र हेतुरस्तीति बहु मन्यन्ते इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

टि०—परमार्थतः—वस्तुतः; परमार्थ के आगे तसिल् प्रत्यय पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में जोड़ा गया है। (पञ्चम्यास्तसिल् पा० ५. ३. ७)। 'परमार्थतः' शब्द का सम्बन्ध 'हरम्' और 'न वेत्सि' दोनों के साथ लिया जा सकता है। 'हरम्' के साथ लेने से उसका अर्थ होगा 'जो वास्तव में शिव था'। ब्रह्मचारी के वेष में शिव ही था जो अपने विषय में पार्वती की मनोभावना जानना चाहता था। 'न वेत्सि' के साथ लेने से इसका अर्थ होगा 'तुम वास्तव में नहीं जानते हो'। 'परमार्थतो न वेत्सि' वाक्य की रचना इस प्रकार होगी:—(१) परमार्थतो हरम् एनम् उवाच च, नूनं त्वं न वेत्सि, यतः माम् एवम् आत्थ, अथवा (२) एनम् उवाच च, हरं परमार्थतः न वेत्सि, यतः माम् एवम् आत्थ। अलोक-सामान्यम्—लोकेषु सामान्यं लोकसामान्यम्, नास्ति लोकसामान्यं यस्य तत् (बहु०), जो जन सामान्य से भिन्न है, अर्थात् असाधारण। अचिन्त्य-हेतुकम्—न चिन्त्यम् अचिन्त्यम्, अचिन्त्यो हेतुर्यस्य तत् (बहु०), वह जिसका कारण समझा नहीं जा सकता। यह विशेषण उन कारणों से परिपूर्ण है जिनके लिए शिव का जीवन-चरित समझ में नहीं आता। यह ब्रह्मचारी की उस उक्ति का उत्तर प्रतीत होता है कि वह शिव को भली-भाँति जानता है। देखो, विदितो महेश्वरः कुमार० ५. ६५।

हिन्दी—और पार्वती उसे बोली—अवश्य तुम वास्तविक रूप से महादेव को नहीं जानते, इसीलिए तुम मुझे ऐसा कहते हो। मूढ़ लोग महात्माओं के असाधारण और दुर्बोध कारण-युक्त चरित्र से (अज्ञान-वश) द्वेष किया करते हैं। [७५]

विपत्प्रतीकार - परेण मङ्गलं
निषेव्यते भूति - समुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः
किमेभिराशोपहतात्म-वृत्तिभिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—विपत्प्रतीकार-परेण भूति-समुत्सुकेन वा मङ्गलं निषेव्यते जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः आशोपहतात्म-वृत्तिभिः एभिः किम् ?

वाच्यपरि०—....विपत्प्रतीकार-परः भूति-समुत्सुकः........निषेवते...., केन (भूयते)।

श०—प्रतीकार—उपाय। समुत्सुक—इच्छुक। निषेव्यते—सेवन किया जाता है। शरण्य—आश्रय-दाता। निराशिष्—निरभिलाशी, निरीह। आशा—तृष्णा। उपहत—दूषित, नष्ट। वृत्ति—प्रवृति।

मल्लि०—सम्प्रति अमङ्गलाभ्यासरतिम् इत्याद्युक्तं दूषणजातं विपदित्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः परिहर्तुमारभते—विपदिति। विपत्प्रतीकार-परेण अनर्थपरिहारार्थिना इत्यर्थः। "**उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्**" **इति दीर्घः**। भूति-समुत्सुकेन ऐश्वर्यकामेन वा मङ्गलम् गन्धमाल्यादिकं निषेव्यते। शरणे साधुः शरण्यः। '**तत्र साधुः इति यत्प्रत्ययः**'। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। जगतः शरण्यः तस्य जगच्छरण्यस्य निराशिषः निरभिलाषस्य सतः शिवस्य। "आशीरुरगदंष्ट्रायां विप्रवाक्याभिलाषयोः" इति शाश्वतः। (आशोपहतात्म-वृत्तिभिः) आशया तृष्णया उपहता दूषिता आत्मवृत्तिः येषां तैः। एभिः मङ्गलैः किं ? वृथा इत्यर्थः। पूर्वं मङ्गलमित्येकवचनस्य जात्यभिप्रायत्वात् एभिरिति बहुवचनेन परामर्शो न विरुध्यते। इष्टावाप्त्यनिष्टपरिहारार्थिनो हि मङ्गलाचारनिर्बन्धः तदुभयासंस्पृष्टस्य तु यथाकथञ्चित् आस्ताम्, को दोष इत्यर्थः। एतेन "अमङ्गलाभ्यासरतिम्" इत्युक्तं प्रत्युक्तम् ॥ ७६ ॥

टि०—विपत्प्रतीकार-परेण—विपदां प्रतीकारः परः यस्य (बहु०), विपत्प्रतीकारपरः, 'दुःखनिवारण में तत्पर', तेन। प्रतीकार—प्रति की इ को विकल्प से दीर्घ कर दिया जाता है (उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् पा० ६. ३. १२२)। इस प्रकार प्रतिकार रूप भी बनेगा। भूति-समुत्सुकेन—भूतौ समुत्सुकः, 'ऐश्वर्य का इच्छुक', तेन। मङ्गलं निषेव्यते—मङ्गलमय पदार्थों का सेवन किया जाता है। जगच्छरण्यस्य—जगतां शरण्यः, तस्य (तत्पु०), जगत् की रक्षा के समर्थ। शरण्यः—शरणे साधुः, शरण+यत् (तत्र साधु, पा० ४. ४. ९८)। निराशिषः—निर्गता आशीः

यस्मात् स निराशीः, 'निरभिज्ञाषी', तस्य। आशोपहतात्म-वृत्तिभिः--आशया उपहता आत्मनो वृत्तिः यैः तानि आशोपहतात्मवृत्तीनि (बहु०), तैः, 'तृष्णा द्वारा आत्मा की प्रवृत्तियों को दूषित करनेवाले (मङ्गलकारी पदार्थों से)'। यह 'एभिः' का विशेषण है जो 'मङ्गलैः' की ओर संकेत करता है।

पार्वती के कहने का तात्पर्य यह है कि मङ्गलकारी पदार्थों का आश्रय तो वे लोग लेते हैं जो दुःख-निवारण की इच्छा करते हैं और ऐश्वर्य की आकांक्षा करते हैं किन्तु शिव को, जो निरभिलाषी है, जगत का आश्रय-दाता है, इन मङ्गलकारी पदार्थों से क्या प्रयोजन ?

हिन्दी—अपनी विपत्ति का प्रतीकार (उपाय) करने में दत्तचित्त वा ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुष से शुभ पदार्थों का सेवन किया जाता है, परन्तु जगत् के आश्रयदाता और निरभिलाषी होने पर शिव का, तृष्णा द्वारा अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को दूषित करनेवाले, इन (मङ्गलमय पदार्थों से) क्या प्रयोजन ? [७६]

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां
त्रिलोक-नाथः पितृ-सद्म-गोचरः।
स भीम-रूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्य-विदः पिनाकिनः॥ ७७॥

अन्वयः—सः अकिञ्चनः सन् सम्पदाम् प्रभवः पितृ-सद्म-गोचरः सन् त्रिलोक-नाथः भीम-रूपः (सन्) शिव इति उदीर्यते पिनाकिनः याथार्थ्य-विदः न सन्ति।

वाच्यपरि०—तम् अकिञ्चनं सन्तं....पितृ-सद्म-गोचरं ....त्रिलोक-नाथं भीम-रूपम्.... उदीरयन्ति ....याथार्थ्य-विद्भिः....भूयते।

श०—अकिञ्चन—निर्धन, दरिद्र। प्रभव—कारण, स्रोत। पितृ-सद्म—श्मशान। याथार्थ्य-विदः...तत्त्व-वेत्ता।

मल्लि०—अकिञ्चन इति। सः हरः न विद्यते किञ्चन द्रव्यं यस्य सः अकिञ्चनः दरिद्रः सन् सम्पदाम्, प्रभवति अस्मादिति प्रभवः कारणम्। पितृ-सद्म-गोचरः श्मशानाश्रयः सन् (त्रिलोक-नाथः) त्रयाणां लोकानां नाथः "तद्धितार्थ—" इत्यादिनोत्तरपदसमासः। स भीम-रूपः भयङ्करा-

कारः सन् शिवः सौम्यरूपः इति उदीर्यते उच्यते। अतः पिनाकिनः हरस्य (याथार्थ्य-विदः) यथाभूतोऽर्थः यथार्थः तस्य भावः याथार्थ्यं तत्त्वं तस्य विदः न सन्ति। लोकोत्तरमहिम्नो निर्लेपस्य यथाकथञ्चित् अवस्थानं न दोषायेति भावः। एतेन "अवस्तुनिर्वन्धपरे" इति श्लोकोक्तं परिहृतं वेदितव्यम् ॥ ७७ ॥

टि०—अकिञ्चनः—नास्ति किञ्चन यस्य सः, 'जिसके पास कुछ भी नहीं है'। यह मयूरव्यंसकादि का तत्पुरुष समास है न कि बहुव्रीहि। (मयूरव्यंसकादयश्च पा० २. १. ७२)। सम्पदां प्रभवः—ऐश्वर्य का स्रोत। चाहे शिव निर्धन है तब भी वह ऐश्वर्य का स्रोत है। त्रिलोकनाथः—त्र्यवयवो लोकस्त्रिलोकस्तस्य नाथः (मध्यमपदलोपि तत्पु०)। मल्लिनाथ ने इस समास का विग्रह इस प्रकार किया है:—"त्रयाणां लोकानां नाथः। तद्धितार्थ–इत्यादि नोत्तरपदसमासः" किन्तु यह विग्रह ठीक नहीं, क्योंकि त्रिपद तत्पुरुष का विधान तभी होता है जब उत्तर भाग द्वारा 'परिमाण' का बोध हो। अतः इस प्रकार के समास भाष्यकार के मतानुसार शाकपार्थिवादि वर्ग के अन्तर्गत लिये जाने चाहिएँ। पितृ-सद्म-गोचरः—पितॄणां सद्म गोचरः यस्यः यस्य (बहु०) सः, जो पितरों के निवास-स्थान पर विचरता है, अर्थात् जो श्मशान-भूमि पर घूमता है। भीम-रूपः–भीमं रूपं यस्य (बहु०) सः, जो डरावनी सूरतवाला है। शिवः—मङ्गलकारी रूपवाला। याथार्थ्य-विदः—यथाभूतोऽर्थो यथार्थः (प्रादि तत्पु०), यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम्, तस्य विदः, 'तत्त्ववेत्ता'।

पार्वती के कहने का तात्पर्य यह है कि शिव में परस्पर विरोधी गुण भरे हैं, वह निर्धन होते हुए भी दाता है, त्रिलोकी का नाथ होते हुए भी श्मशान-भूमि में रहनेवाला है, भयंकर रूपधारी होते हुए भी मङ्गल रूप वाला है। इन परस्पर विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण शिव को यथार्थ रूप से जानना कठिन है।

हिन्दी—वह महादेव दरिद्र होकर भी धन-ऐश्वर्य का उत्पत्ति-स्थान है, पितृ-भूमि (श्मशान) में रहता हुआ भी त्रिभुवन-पति है, वह भयानक आकृतिवाला (लोगों से) शिव (कल्याणकारी) कहा

जाता है, त्रिशूल-धारी (शिव) की वास्तविकता को जाननेवाले पुरुष नहीं हैं। [७७]

विभूषणोद्भासि पिनद्ध-भोग वा
गजाजिनालम्बि-दुकूल-धारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दु शेखरं
न विश्व - मूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—विश्व-मूर्तेः वपुः विभूषणोद्भासि स्यात् पिनद्ध-भोगि वा (स्यात्) गजाजिनालम्बि (स्यात्) दुकूल-धारि (स्यात्) कपालि व स्याद् अथवा इन्दु-शेखरं (स्यात्) न अवधार्यते।

वाच्यपरि०—....वपुषा विभूषणोद्भासिना...., पिनद्ध-भोगिना...., गजाजिनालम्बिना, दुकूल-धारिणा...., कपालिना...., इन्दु-शेखरेण....। (जनाः)... अवधारयन्ति।

श०—विभूषण—आभूषण। उद्भासिन्—देदीप्यमान। पिनद्ध—बाँधा गया। भोगिन्—साँप। कपालि—जो खप्पर धारण किये है।

मल्लि०—देवस्य लौकिकमलौकिकञ्च प्रसाधनं नास्तीत्याशयेनाऽऽह—विभूषणोद्भासीति। विश्वं मूर्तिः यस्येति विश्वमूर्तेः अष्टमूर्तेः शिवस्य। वपुः शरीरम्। भूषणैः उद्भासत इति विभूषणोद्भासि स्यात्। पिनद्ध-भोगि आमुक्तभुजङ्गमं वा स्यात्। पिनद्धेति नह्यतेरपिपूर्वात् कर्मणि क्तः। "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इति अकारलोपः। गजाजिना-लम्बि स्यात्, अथवा दुकूलधारि स्यात्। कपालमस्यास्तीति कपालि ब्रह्मशिरः-कपालशेखरं वा स्यात्, इन्दु-शेखरं वा स्यात्। न अवधार्यते न निर्धार्यते सर्वं सम्भवतीत्यर्थः एतेन "त्वमेव तावत्" इति श्लोकोक्तं प्रत्युक्तमिति ज्ञेयम्॥ ७८॥

टि०—विभूषणोद्भासि—विभूषणैः उद्भासत इति तत् (तत्पु०), 'आभूषणों से देदीप्यमान (शरीर)'। पिनद्ध-भोगि—पिनद्धा भोगिनः यस्मिन् (बहु०) तत्, साँपों से लिपटा (शरीर)। यह पहले कहे विशेषण के विपरीत है। भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण शिव को विचित्र प्रकृति का कहा गया है। पिनद्ध—अपि +

√नह् 'बाँधना' + क्त। अपि के अ का विकल्प से लोप हो जाता है। ('वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः') । गजाजिनालम्बि—गजस्य अजिनम् अवलम्बते इति (तत्पु०), 'गजचर्म में लिपटा'। दुकूल-धारि—दुकूलं धारयतीति, रेशमी वस्त्र पहने। कपालिन्—कपालम् अस्मिन् अस्तीति तत्। कपाल—कपाल से ब्रह्मा की खोपड़ी की ओर संकेत है। एक बार शिव को ब्रह्मा के यह कहने पर क्रोध आ गया कि शिव मेरे मस्तक से उत्पन्न हुआ है। शिव ने क्रोध के वशीभूत होकर काल भैरव का उग्र रूप प्रकट किया, और अपने नाखूनों से ब्रह्मा का एक सिर काट डाला और उसे अपने मस्तक पर रख लिया। इन्दु-शेखरम्—इन्दुः शेखरे यस्य (बहु०) तत्, 'जिसके मस्तक पर चन्द्रमा है'। यह विशेषण 'वपुः' (नपुं०) के साथ जायेंगे। विश्व-मूर्तेः—विश्वं मूर्तिः यस्य (बहु०) स विश्वमूर्तिः, 'वह जिसका स्वरूप विश्व है', तस्य। न अवधार्यते—निश्चित नहीं किया जा सकता।

हिन्दी—विश्व-मूर्त्ति शिव के शरीर का निश्चय नहीं किया जा सकता, वह (शरीर) आभूषणों से शोभित हो या फणधारी साँप से लिपटा हो, गज-चर्म में ढँपा हो वा रेशमी वस्त्र धारण किए हो, (मस्तक पर) कपाल हो वा मस्तक पर चन्द्रमा हो (कोई नहीं ठीक जानता)। [७८]

तदङ्ग - संसर्गमवाप्य कल्पते
ध्रुवं चिता-भस्म-रजो विशुद्धये।
तथाहि नृत्याभिनय-क्रिया-च्युतं
विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तदङ्ग-संसर्गम् अवाप्य चिता-भस्म-रजः विशुद्धये कल्पते ध्रुवम्, तथाहि नृत्याभिनय-क्रिया-च्युतम् (तत् भस्म) अम्बरौकसां मौलिभिः विलिप्यते।

वाच्यपरि०— चिता-भस्म-रजसा.... कल्पते.... । ....मौलयः विलिम्पन्ति।

श०—संसर्ग—सम्पर्क। अवाप्य—प्राप्त करके। ध्रुवम्—निश्चय

ही। अभिनय—शरीर की हाव-भाव भरी चेष्टा। च्युत—पतित, गिरी। अम्बरौकस्—स्वर्लोकवासी, देवता। मौलिभिः—सिरों द्वारा। विलिप्यते—धारण की जाती है।

मल्लि०—"अयुक्तरूपं किमतः परं वद" इति श्लोकोक्तं प्रत्याह—तदङ्गेति। (तदङ्ग-संसर्गम्) तस्य शिवस्य अङ्गं तस्य संसर्गम् अवाप्य आसाद्य (चिता-भस्म-रजः) चिताभस्मैव रजः विशुद्धये कल्पते। अलं पर्याप्नोतीत्यर्थः। अलमर्थयोगात् "नमः स्वस्तिस्वाहा" इत्यादिना चतुर्थी। ध्रुवं शोधकत्वं प्रमाणसिद्धमित्यर्थः। प्रमाणमेवाऽऽह—तथाहि प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। (नृत्याभिनय-क्रिया-च्युतं) नृत्ये ताण्डवे यः अभिनयोऽर्थव्यञ्जकचेष्टाविशेषः स एव क्रिया तया निमित्तेन च्युतं पतितं चिताभस्मरज इति शेषः। अम्बरौकसां देवानां मौलिभिः विलिप्यते ध्रियते। अशुद्धं चेत् कथमिन्द्रादिभिर्ध्रियेतेत्यर्थापत्तिः अनुमानं वा प्रमाणमित्यर्थः॥ ७९॥

टि०—चिता-भस्म-रजः—चितायाः भस्मनः रजः (तत्पु०), चिता की भस्म की धूलि। तदङ्ग-संसर्गम्—तस्य अङ्गानां संसर्गः तदङ्गसंसर्गः तम् (तत्पु०)। अवाप्यते—अव+√आप्+क्त्वा (=ल्यप्), प्राप्त करके। ध्रुवम्—अव्यय, निश्चय ही। विशुद्धये कल्पते—संशुद्धि के लिए पर्याप्त है। यहाँ विधेय 'कल्पते' अलम् 'पर्याप्त' का सूचक है, अतः यहाँ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। (नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च पा० २. ३. १६)। कुछ लोगों के मतानुसार यहाँ चतुर्थी का प्रयोग इस लिए हुआ है कि जिस अभिप्राय के लिए कोई कार्य किया जाता है वह सूचित हो, अथवा वह परिणाम सूचित हो जिसे पाने के लिए कोई वस्तु सहायक सिद्ध होती है। (क्लृपि संपद्यमाने च वा०) नृत्याभिनय-क्रिया-च्युतम्—नृत्ये अभिनयः एव क्रिया तथा च्युतम् (तत्पु०), ताण्डव नृत्य के अभिनय के समय गिरी (भस्म)। अम्बरौकसाम्—अम्बरम् ओकः येषां (बहु०) तेषाम्, उनका जिनका निवास-स्थान स्वर्ग है।

ब्रह्मचारी द्वारा पद्य ६९ में कहे वचन का यह उत्तर है। इस पद्य में कहा गया है कि शिव के शरीर पर लगी भस्म पार्वती की छाती से लग जायगी। पार्वती ने उत्तर में कहा है कि भस्म तो शिव के शरीर के साथ

लगने से पवित्र हो गई है और इसी लिए वह जब ताण्डव नृत्य का अभिनय करते हैं और भस्म नीचे गिरती है तो वह भस्म स्वर्लोकवासी देवताओं द्वारा अपने सिरों पर धारण की जाती है।

हिन्दी—चिता-भस्म की धूलि भी उसके शरीर-स्पर्श को पाकर सचमुच शुद्धि के समर्थ हो जाती है। इसीलिए (यह प्रसिद्ध है कि) ताण्डव-नृत्य के समय अभिनय-क्रिया से गिरी हुई (वह भस्म) स्वर्लोक-वासी देवताओं के सिरों पर धारण की जाती है। [७६]

असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः
प्रभिन्न-दिग्वारण-वाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना
विनिद्र-मन्दार-रजोऽरुणाङ्गुली ॥ ८० ॥

अन्वयः—प्रभिन्न-दिग्वारण-वाहनः वृषा असम्पदः वृषेण गच्छतः तस्य पादौ मौलिना उपगम्य विनिद्र-मन्दार-रजोऽरुणाङ्गुली करोति।

वाच्यपरि—प्रभिन्न-दिग्वारण-वाहनेन वृष्णा....क्रियते।

श०—प्रभिन्न—मतवाला। वृषा—इन्द्र। वृष—बैल। विनिद्र—विकसित, खिला हुआ। मन्दार—स्वर्ग के पाँच वृक्षों में से एक का नाम।

मल्लि०— यदुक्तं दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु", इत्यत्र तेऽन्या पुरतो विडम्बना" इत्यादि च तत्रोत्तरमाह—असम्पद इति। (प्रभिन्न-दिग्वारण-वाहनः) प्रभिन्नः मदस्रावी दिग्वारणः दिग्गजः वाहनं यस्य सः ऐरावतेन ऊढ इत्यर्थः। वृषा देवेन्द्रः असम्पदः दरिद्रस्य वृषेण गच्छतः वृषभारूढस्य तस्य ईश्वरस्य पादौ मौलिना मुकुटेन उपगम्य प्रणम्य इत्यर्थः। (विनिद्र-मन्दार-रजो-रुणाङ्गुली) विनिद्राणां विकसितानां मन्दाराणां कल्पतरु-कुसुमानां रजोभिः परागैः अरुणा अङ्गुलयः ययोः तौ यथोक्तौ करोति। दिग्गजारोहिणाम् इन्द्रादीनामपि वन्द्यस्य इन्दुमौलेः किं सम्पदा ? वृषारोहणे वा को दोष इत्यर्थः ॥ ८० ॥

टि०—प्रभिन्न-दिग्वारण-वाहनः—प्रभिन्नः दिशः वारणः वाहनं यस्य (बहु०) सः, 'मदबहाता दिग्गज जिसकी सवारी है'। इससे ऐरावत की ओर संकेत है जो इन्द्र की सवारी है। प्रभिन्न—प्र+√भिद्+क्त, यह

मदमत्त हाथी का विशेषण है। (देखो, 'प्रभिन्नो गर्जितो मत्तः' अमर) हाथी को 'प्रभिन्न' इसलिए कहा है क्योंकि वह गाल फट जाने से मद बहाता रहता है। असम्पदः—नास्ति सम्पद् यस्य (बहु०) सः असम्पत् तस्य, धनहीन का। वृषेण गच्छतः—बैल पर चढ़कर जाते हुए (शिव) का। विनिद्र-मन्दार-रजोरुणाङ्गुली—विनिद्राणां मन्दाराणां रजोभिः अरुणा अङ्गुलयो ययोः (बहु०) तौ, 'जिसके (पैरों की) अंगुलियाँ विकसित मन्दार पुष्पों के पराग से लाल रही हैं'। यह समास 'पादौ' का विशेषण है। मन्दार—देवताओं के पाँच वृक्षों में से मन्दार एक वृक्ष है। देखो,

पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥ अमर

इन्द्र अपने मस्तक पर मन्दार पुष्प धारण किये रहता है और जब वह शिव के चरणों में अपना मस्तक झुकाता है तब उसके मन्दार पुष्पों के पराग से शिव के चरण लाल हो जाते हैं। देखो,

"जम्भारिमौलिमन्दारमालिकामधुचुम्बिनः।" कुन्द० १. १.

ब्रह्मचारी के कथन का 'शिव निर्धन है' यह पद्य उत्तर है। पार्वती कहती है कि चाहे शिव निर्धन है तब भी वह देवताओं द्वारा सत्कृत होता है।

हिन्दी—मद-स्रावी (पूर्व-) दिशा का हस्ती-रूप वाहनवाला इन्द्र पास आकर प्रणाम करके बैल पर जानेवाले उस निर्धन (शिव) के पैरों को विकसित मन्दार पुष्पों के पराग से लाल अँगुलियों वाला करता है। [८०]

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना
त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्म-भुवोऽपि कारणं
कथं स लक्ष्य-प्रभवो भविष्यति॥ ८१॥

अन्वयः—च्युतात्मना दोषं विवक्षताऽपि त्वया ईशं प्रति एकं साधु भाषितम्, यम् आत्म-भुवः अपि कारणम् आमनन्ति सः कथं लक्ष्य-प्रभवः भविष्यति ?

वाच्यपरि०—च्युतात्मा.... विवक्षन् .... त्वं.... भाषितवान् । यः ....आम्नायते, तेन.... लक्ष्य-प्रभवेण भविष्यते ।

श०—च्युतात्मन्—पापात्मन् । ईश—शिव । आत्मभू—स्वयम्भू, ब्रह्मा । कारण—जन्मदाता । आमनन्ति—मानते हैं । प्रभव—जन्म।

मल्लि०—यदुक्तम् अलक्ष्य-जन्मतेति तत्रोत्तरमाह—विवक्षतेति । च्युतात्मना नष्टस्वभावेन अत एव दोषं दूषणं विवक्षता वक्तुमिच्छताऽपि त्वया ईशं प्रति एकम् अलक्ष्य-जन्मतेति इदमेकं वच इत्यर्थः । साधु भाषितं सम्यगुक्तम् कुतः ? यम् ईश्वरम् आत्म-भुवोऽपि ब्रह्मणोऽपि "ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः" इत्यमरः । कारणम् आमनन्ति उदाहरन्ति, विद्वांस इति शेषः । "पाघ्राध्मास्थाम्नादाणि" इत्यादिना मनादेशः । सः ईश्वरः कथं लक्ष्य-प्रभवः ? लक्ष्यजन्मा भविष्यति ? अनादिनिधनस्य भगवतः कारणशङ्का कलङ्कश्च नान्विष्यत इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

टि०—च्युतात्मना—च्युतः आत्मा यस्य (बहु०), स च्युतात्मा, तेन । विवक्षता—वक्तुम् इच्छता, √वच्+सन्+शतृ, तृतीया एक०, बोलने के इच्छुक से । ब्रह्मचारी यह कह कर कि शिव के जन्म आदि का कुछ पता नहीं, वह शिव के प्रति दोष निकालता है परन्तु पार्वती बताती है कि यही बात तो शिव के सम्मान की है, क्योंकि जो ब्रह्मा का भी उत्पन्न करनेवाला है, भला उसका जन्म कौन जाने ! ईशं प्रति—प्रति के साथ द्वितीया विभक्ति लगती है। (वा० अभितःपरितःसमया-निकषाहाप्रतियोगेऽपि) । आत्म-भुवा—आत्मना भवतीति आत्मभूः तेन, 'ब्रह्मा द्वारा' । कारणम्—स्रोत, जन्मदाता । देखो, **यो वै ब्राह्मणं विदधाति पूर्वम्** ।

विश्व का स्वामी ईश और शिव एक मान लेने पर ही यह बात कही जा सकती है । अन्यथा शिव की उत्पत्ति ब्रह्मा के मस्तक से हुई ऐसा ऐसा कथन है ।

आमनन्ति—आ+√म्ना 'प्रशंसा करना' लट् प्रथम० एक० । आ उपसर्ग के साथ √म्ना का अर्थ होगा 'विचार करना, समझना' । लक्ष्य-प्रभवः—लक्ष्यः प्रभवः यस्य (बहु०) सः, जिसका जन्म ज्ञात है ।

हिन्दी—तुम नीच-आत्मा ने दोष-मात्र कहने की इच्छा होने पर भी शिव के प्रति एक अच्छी बात कह दी है—जिसे ब्रह्मा की

उत्पत्ति का भी कारण कहते हैं, वह कैसे ज्ञात-जन्मवाला हो सकता है (अर्थात् उसका जन्म क्यों कर जाना जा सकता है) ? [८१]

अलं विवादेन तथा श्रुतस्त्वया
तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैक-रसं मनः स्थितं
न काम-वृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ८२ ॥

अन्वयः—विवादेन अलम्, त्वया यथा सः श्रुतः अशेषं तथाविधः तावद् अस्तु, मम मनः तु अत्र भावैक-रसं (सत्) स्थितम्। काम-वृत्तिः वचनीयं न ईक्षते।

वाच्यपरि०—...त्वं यथा तं श्रुतवान्, ...(तेन) तथाविधेन.... भूयताम्, ... मनसा....भावैक-रसेन स्थितम्..., काम-वृत्तिना....ईक्ष्यते।

श०—विवाद—झगड़ा। भावैक-रस—केवल (शिव के) प्रेम-भाव में लीन। काम-वृत्ति—स्वेच्छाचारी। वचनीय—निन्दा, लोकापवाद।

मल्लि०—अलमिति। अथवा विवादेन कलहेन अलम्। त्वया तावत् यथा येन प्रकारेण स ईश्वरः श्रुतः अशेषं कार्त्स्न्येन तथाविधः तावत्प्रकारः एव अस्तु। मम मनः अत्र ईश्वरे (भावैक-रसम्) भावः शृङ्गारः एकः अद्वितीयः रसः आस्वादो यस्य तत् तथा स्थितम्। तथाहि काम-वृत्तिः स्वेच्छाव्यवहारी वचनीयम् अस्थानसङ्गापवादं न ईक्षते न विचारयति। न हि स्वेच्छासञ्चारिणो लोकापवादाद् बिभ्यतीति भावः ॥ ८२ ॥

टि०—विवादेन अलम्—झगड़ा समाप्त करो। जब अलं का अर्थ 'बस करो' होता है तब तृतीया विभक्ति लगती है। देखो, **'अलं समाधिना'** (कुमार० ५. ४५); **अलं महीपाल ! तव श्रमेण।** (रघु० २. ३४.)

यथा श्रुतः—चाहे शिव वैसा ही हो जैसा कि ब्रह्मचारी ने वर्णन किया है तब भी पार्वती ने अपना विचार न बदला, क्योंकि वह गुण-दोष निरूपण किये बिना शिव पर अपना तन मन वार बैठी थी। तथाविधः—तथा विधा (प्रकारः) यस्य सः, 'उस प्रकार का'। अशेषम्—न शेषः यस्मिन् कर्मणि तद् 'पूर्ण रूप से'। भावैक-रसम्—भावे एकः रसः यस्य (बहु०) तत् 'केवल प्रेम-भाव में लीन' अर्थात् जिसमें युक्ति काम नहीं करती, केवल

प्रवृत्ति ही उत्तेजक है। काम-वृत्तिः—कामः वृत्तिः यस्य (बहु०) सः, 'स्वेच्छाचारी'। न ईक्षते—उपेक्षा करता है, परवाह नहीं करता। सच्चा प्रेम पुरुष के गुण-दोष को नहीं परखता। प्रेम में लीन व्यक्ति केवल प्रेम में बह जाता है, वह दोषों के प्रति अंधा बना रहता है। देखो,

रागाञ्जनमिदमक्ष्णोर्व्यंञ्जयति प्रायशो गुणान् विषये।
दोषाञ्जनं तु दोषाननुभयसक्तिर्व्यनक्ति भूतार्थम्॥

हिन्दी—झगड़ा बन्द करो। तुमने वह (शिव) जैसा सुना है, वह सर्वथा वैसा ही हो। मेरा मन यहाँ केवल प्रेम-रस में लीन है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति (स्नेह-भाव) वाले जनापवाद का विचार नहीं करते। [८२]

निवार्यतामालि! किमप्ययं बटुः
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मदपि यः स पाप-भाक्॥ ८३ ॥*

अन्वयः—(हे) आलि! (त्वया) स्फुरितोत्तराधरः अयं बटुः पुनः किम् अपि विवक्षुः निवार्यताम्, यः महतः अपभाषते न केवलं सः तस्मात् यः शृणोति सः अपि पाप-भाक् (भवति)।

वाच्यपरि०—....स्फुरितोत्तरं इमं बटुं....विवक्षुं निवारय, येन महान्तः अपभाष्यन्ते,....तेन....येन श्रूयते तेन... पाप-भाजा (भूयते)

श०—आलि—सखि!। उत्तर—ऊपरला, अधिक। बटु—ब्रह्मचारी। विवक्षु—कहने की इच्छावाला। अपभाषते—निन्दा करता है। पाप-भाक्—पाप का भागी।

मल्लि०—निवार्यतामिति। हे आलि! सखि! "आलिः सखी वयस्या च" इत्यमरः। स्फुरितोत्तराधरः स्फुरणभूयिष्ठोष्ठः। अयं बटुः माणवकः पुनः किमपि विवक्षुः वक्तुमिच्छुः, ब्रुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः। निवार्यताम्। तर्हि वक्तुमेव कथं न ददासीत्याह—तथाहि, यो महतः पूज्यान् अपभाषते अपवदति न केवलं स पापभाग् भवति; अत्र स्मृतिः—

"गुरोः यत्र परीवादो न श्रोतव्यः कथञ्चन।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥" इति ।

किन्तु तस्मात् महतामपवादकात् पुरुषात् यः शृणोति महदपवादक-वाक्यमिति शेषः, सोऽपि पाप-भाक् इत्यनुषज्यते ॥ ८३ ॥

टिं०—आलि—सम्बोधन, सखि ! देखो, 'आलिः सखी वयस्या च' अमर । स्फुरितोत्तराधरः—स्फुरितम उत्तराधरं यस्मिन (बहु०) सः, 'जिसके ऊपर और नीचे के होंठ काँप रहे थे', अथवा स्फुरितम् उत्तरं यस्मिन् (बहु०) सः स्फुरितोत्तरः, सः अधरः यस्य (बहु०), 'जिसका निचला होंठ बहुत काँप रहा था'। यहाँ 'उत्तर' शब्द 'अधिक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'स्फुरित' का विशेषण होने के कारण यह शब्द स्फुरित के पहले होना चाहिए था, परन्तु इसे 'स्फुरितोत्तर' समास का दूसरा भाग बनाकर वाहिता-ग्न्यादि वर्ग में लिया गया है (वाहिताग्न्यादिषु च पा० २. २. ३७); अथवा 'उत्तर' शब्द यदि 'मिश्रित, युक्त' के अर्थ में लिया जाय तो समास का विग्रह ऐसे होगा—स्फुरितेन उत्तरः अधरः यस्य (बहु०) सः, 'जिसका निचला होंठ कंपकपी से युक्त था'। ब्रह्मचारी के काँप रहे होंठ से उसका क्रोध नहीं, बल्कि उसकी आगे बोलने की इच्छा प्रकट होती है। विवक्षुः—वक्तुमिच्छुः, √वच्+सन्+उ, 'बोलने की इच्छावाला'। निवार्यताम—विधिलिङ्, प्रथम पु० एक० 'रोक दो'। देखो,

निवार्यतामयं भिक्षुर्विवक्षुः स्फुरिताधरः ।
न तावन्निन्दकः पापी यथा शृण्वञ्शशिप्रभे ! ॥ वायुपुराण

अपभाषते—√भाष् 'बोलना' यदि अप उपसर्ग के साथ हो तो इसका अर्थ होता है 'निन्दा करना'। पाप-भाक्—पापं भजत इति, 'पापी'। वही नहीं जो बड़ों की निन्दा करता है, बल्कि वह भी जो उस निन्दा को सुनता है पाप का भागी होता है। देखो,

यः करोति महादेवनिन्दामात्मविनाशिनीम् ।
स पापिष्ठतरस्तस्माद्यः शृणोति स पापभाक् ॥

स्मृतिकारों ने भी गुरुजनों की निन्दा के सुननेवाले को पापात्मा और पाप का भागी कहा है। (देखो मल्लि० कृत टीका

हिन्दी—हे सखि ! फिर कुछ कहने की इच्छावाले तथा फड़क

रहे होंठोंवाले इस ब्रह्मचारी को मना कर दो। (क्योंकि) जो महापुरुषों की निन्दा करता है, न केवल वही परन्तु जो उस (निन्दा करनेवाले) को सुनता है वह भी पाप का भागी होता है। [८३]

इतो गमिष्याम्यथ वेति वादिनी
चचाल बाला स्तन-भिन्न-वल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृत-स्मितः
समाललम्बे वृषराज-केतनः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अथ वा (अहम्) इतः गमिष्यामि इति वादिनी स्तन-भिन्न-वल्कला बाला चचाल वृष-राज-केतनः स्वरूपम् आस्थाय कृत-स्मितः (सन्) तां समाललम्बे।

वाच्यपरि०—अथवा (मया) इतः गमिष्यते इति वादिन्या स्तन-भिन्न-वल्कलया बालया चेले, वृषराज-केतनेन च स्वरूपम् आस्थाय कृत-स्मितेन सा समाललम्बे।

श०—भिन्न—खिसक गया। स्वरूप—निज रूप। वृष-राज-केतन—बैल के चिह्नवाली जिसकी ध्वजा है। समाललम्बे—पकड़ लिया।

मल्लि०—सम्प्रति गन्तव्यपक्षमाश्रयते—इत इति। अथ वा इतः अन्यत्र गमिष्यामि इति वादिना वदन्ती। (स्तन-भिन्न-वल्कला) स्तनाभ्यां भिन्नवल्कला रयवशात् कुचस्रस्तचीरा बाला पार्वती चचाल। वृष-राज-केतनः वृषभध्वजः च स्वरूपमास्थाय निजरूपमाश्रित्य कृतस्मितः सन्। तां पार्वतीं समाललम्बे जग्राह ॥ ८४ ॥

टि०—वादिनी—√वद्+णिनि+ङीप्, 'बोलनेवाली'। स्तन-भिन्न-वल्कला—स्तनाभ्यं भिन्नं वल्कलं यस्याः (बहु०) सा, 'जिसका छाल का बना वस्त्र स्तनों से सरक गया था'। इससे उसकी तीव्र गति तथा स्तनों की उन्नतावस्था का बोध होता है। उसके उन्नत स्तन उसके शीघ्र चलने पर वल्कल से टकरा कर सरक गये थे। इससे विदित होता है कि पार्वती ऐसी अवस्था को पहुँच गई थी कि वह अपने योग्य वर चुन सकती थी। वृष-राज-केतनः—वृषराजः केतने यस्य (बहु०) सः। यह शिव का विशेषण है। स्वरूपमास्थाय—निज रूप को प्रकट करके। इससे पहले

शिव की, ब्रह्मचारी के वेष में, पार्वती से बातचीत हो रही थी। अब शिव ने कृत्रिम वेष हटा कर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया। कृत-स्मितः—कृतं स्मितं येन (बहु०) सः, मुस्कराते हुए। उसकी मुस्कराहट बता रही थी कि उसने पार्वती की अभिलाषा को स्वीकार कर लिया। समलालम्बे—सम्+आ+√लम्ब् लिट् प्रथम पु० एक० 'पकड़ लिया' √लम्ब् 'लटकना' का अर्थ सम और आ उपसर्गों के साथ है 'पकड़ना'।

हिन्दी—"अथवा मैं यहाँ से चली जाती हूँ" यह कहती हुई वह कुमारी (पार्वती), जिसके स्तनों पर से वल्कल खिसक गया था, चल पड़ी और (तब) बैल के चिह्न की पताकावाले (शिव) ने अपना रूप धारण कर, मुस्कराते हुए, उसे पकड़ लिया। [८४]

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्ग-यष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचल-व्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराज-तनया न ययौ न तस्थौ ॥ ८५ ॥

अन्वयः— तं वीक्ष्य....निक्षेपणाय उद्धृतं पदम् उद्वहन्ती शैलाधिराज-तनया मार्गाचल-व्यतिकराकुलिता सिन्धुः इव न ययौ न तस्थौ।

वाच्यपरि०—....वेपथुमत्या सरसाङ्ग-यष्ट्या ....उद्वहन्त्या शैलाधिराज-तनयया मार्गाचल-व्यतिकराकुलितया सिन्ध्वा न ययेन तस्थे।

श०—वीक्ष्य – देखकर। वेपथुमती—काँप रही। सरस—पसीने में तर। अङ्ग-यष्टि—तन्वङ्गी, सूक्ष्माङ्गी। अचल—पर्वत। व्यतिकर—स्पर्श, बाधा। शैल—पर्वत। आकुलित—संभ्रमित, रोकी गई।

मल्लि०—तमिति। तं वीक्ष्य वेपथुमती कम्पवती सरसाङ्ग-यष्टिः स्विन्नगात्री, महादेवदर्शनेन देव्याः सात्त्विकभावोदय उक्तः। निक्षेपणाय अन्यत्र विन्यासाय उद्धृतम् उत्क्षिप्तं पदम् अङ्घ्रिम् उद्वहन्ती शैलाधिराज-तनया पार्वती, (मार्गाचल-व्यतिकराकुलिता) मार्गे अचलः तस्य व्यतिकरेण समाहत्या, अवरोधनेन इति यावत् आकुलिता सम्भ्रमिता सिन्धुः नदी इव। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः। न ययौ न तस्थौ, लज्जयेति भावः। वसन्ततिलका वृत्तमेतत् ॥ ८५ ॥

टि०—वीक्ष्य वि+√ईक्ष्+क्त्वा (=ल्यप्)। वेपथुमती—वेपथु अस्या अस्तीति सा; वेपथु + मतुप् + ङीप् 'बहुत काँपती हुई'। मतुप् प्रत्यय वेपथु को अतिशय के अर्थ में जोड़ा गया है। (अतिशयार्थे मतुप्), वेपथु—√वेप् 'काँपना' + अथुच् (ट्वितोऽथुच् पा० ३. ३. ८९); आठ सात्त्विक भावों में से वेपथु एक भाव है:—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्त्विका गुणाः॥

सरसाङ्ग-यष्टिः—रसेन सह वर्त्तत इति सरसा (बहु०) सरसा अङ्ग-यष्टिः यस्याः (बहु०) सा, 'जिसका कोमल शरीर पसीने में तर हो गया'। अङ्ग के आगे 'यष्टि' प्रत्यय जुड़ने से अङ्गों की क्षीणता का बोध होता है। काँपना और पसीने में तर हो जाना शिव के दर्शन के कारण था। निक्षेपणाय—नि+√क्षिप् + ल्युट्, चतुर्थी, 'आगे रखने के लिए (उठाये हुए)'। उद्धृतम्—उत्+√हृ+क्त 'उठाये हुए'। उद्वहन्ती—उद्+√वह् 'ले जाना'+शतृ+ङीप् 'उठाती हुई'। शैलाधिराज-तनया—शिलानाम अयं शैलः (शिला+अण्), शैलानाम् अधिराजः शैलाधिराजः (तत्पु०), 'पर्वतों का राजा', तस्य तनया (तत्पु०), पार्वती। मार्गाचल-व्यतिकराकुलिता—मार्गे अचलस्य व्यतिकरेण आकुलिता सा (तत्पु०), 'मार्ग में पर्वत के टकराने से रोकी गई'। सिन्धु—नदी; जैसे नदी की गति मार्ग में पर्वत से रोक ली जाने पर न आगे बढ़ती है और न रुकती ही है, वैसे ही पार्वती शिव के स्पर्श तथा दर्शन पाकर न आगे बढ़ सकी न रुक ही पाई।

हिन्दी—उस (शिव) को देखकर काँप रहे और पसीना-पसीना हुए शरीरवाली पर्वत-राजपुत्री और कहीं रखने के लिए पैर को उठाए, मार्ग में पर्वत द्वारा बाधा प्राप्त होने से रोकी गई नदी के समान, न आगे बढ़ी सकी और न ठहर ही पाई। [८५]

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्र-मौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥ ८६॥

इति श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
पार्वतीतपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः

अन्वयः—चन्द्रमौलौ 'हे अवनताङ्गि ! अद्य प्रभृति तव तपोभिः क्रीतः दासः अस्मि' इति वादिनि (सति) सा अह्नाय नियमजं क्लमम् उत्ससर्ज; हि क्लेशः फलेन पुनः नवतां विधत्ते ।

वाच्यपरि०—क्रीतेन दासेन भूयते ।....तया ....नियमजः क्लमः उत्ससृजे ....क्लेशेन....नवता विधीयते ।

श०—अवनत—झुका हुआ । क्रीत—खरीदा गया । चन्द्रमौलि—चन्द्रशेखर, शिव । अह्नाय—तुरन्त । क्लम—क्लेश, थकान । उत्ससर्ज—छोड़ दिया । क्लेश—खेद, परिश्रम । विधत्ते—धारण करता है ।

मल्लि०—अद्येति । चन्द्रमौलौ शिवे, हे अवनताङ्गि, पार्वति ! अद्य प्रभृति अस्माद्दिनादारभ्येत्यर्थः ।' प्रभृतियोगादद्येति सप्तम्यर्थवाचिना पञ्चम्यर्थो लक्ष्यते । तव तपोभिः क्रीतः । दासङ् दाने । दासते आत्मानं ददातीति दासः अस्मि इति वादिनि वदति सति, सा देवी अह्नाय सपदि "स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते" इत्यमरः । नियमजं तपोजन्यं क्लमं क्लेशम् उत्ससर्ज, फलप्राप्त्या क्लेशं विसस्मार इत्यर्थः । तथाहि क्लेशः फलेन फलसिद्ध्या पुनर्नवतां विधत्ते पूर्ववदेव अक्लिष्टताम् आपादयतीत्यर्थः । सफलः क्लेशो न क्लेश इति भावः ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
कुमारसम्भवव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां पार्वती-
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः

टि०—अवनताङ्गि—अवनतम् अङ्गं यस्याः (बहु०) तत्सम्बुद्धौ, 'हे झुके हुए अङ्गोंवाली !' अद्य प्रभृति—आज से लेकर । तपोभिः क्रीतः—तपस्या द्वारा खरीदा गया । भक्ति ही एकमात्र उपाय है जिससे देवता जीता जा सकता है । पार्वती ने तपस्या के रूप में सच्ची भक्ति द्वारा शिव को खरीद लिया । चन्द्र-मौलौ—चन्द्रः मौलौ यस्य (बहु०), स चन्द्रमौलिः, तस्मिन् । अह्नाय—तुरन्त, झटपट । देखो,

"स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुतम्" अमर ।

नियमजम्—नियमात् जातम्, 'कठोर तप द्वारा उत्पन्न'। उत्ससर्ज—उत्+√सृज् 'त्यागना' लिट्, प्रथम पु० एक०। कठोर तप द्वारा उत्पन्न हुए परिश्रम को पार्वती अपनी अभिलाषा पूर्ण होने पर सर्वथा भूल गई। कठोर तप के फल की प्राप्ति हो जाने पर वह अब नयेपन को प्राप्त हुई। नवतां विधत्ते—नयापना धारण करता है ; अनेक दुःख-पीड़ा सहन करने के पश्चात् मनुष्य जब अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त करता है तब वह नयेपन को धारण करता है और नया सुख अनुभव करने लगता है।

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।

और भी,

तव हस्तदानचतुरस्तपसा हि क्रीतोऽयमस्मि दासजनः। पार्वती-परि०

हिन्दी—"हे झुके हुए शरीरवाली! आज से लेकर मैं तुम्हारी तपस्याओं से खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ।" शिव के ऐसा कहने पर वह तुरन्त यम (व्रत-उपवास) से उत्पन्न हुए परिश्रम को भूल गई, क्योंकि परिश्रम फल-प्राप्ति द्वारा फिर नयापन प्रदान करता है। [८६]

पद्य-सूची

ENGLISH TRANSLATION

[St. 1] She, Parvati, disappointed in her hopes by the Trident-holder (or bow- wielder) Siva by burning the mind-born Cupid before her eyes in that manner, cursed her beauty in her heart; for beauty has for its fruit good fortune as regards one's husband.

[St. 2] She (Parvati) having resorted to profound meditation, hoped to make her beauty fruitful by penance. Otherwise, how could these two be secured – such love and a husband of that sort ?

[St. 3] Hearing that her daughter, who had fixed her heart on Siva (the lord of mountains), was determined to practise penance, Mena embraced her to her bosom and spoke dissuading her from the ascetics' difficult vow.

[St. 4] There are gods in the house whom thy heart would desire to love. Child ! Where (hard) asceticism and where thy (slender) constitution? The delicate Sirisa flower can bear the step of a bee but not that of a bird.

[St. 5] Mena thus exhorting her daughter, who was firm in her mind, could not check her from her purpose. Who can reverse the mind firmly set upon the attainment of desired object and water flowing towards a slope?

[St. 6] Once the wise maiden through her confident friend begged of her father, who knew her desire, for her residence in woods for practising penance till the appearance of fruit.

[St. 7] Then Parvati being permitted by her most revered father, who was pleased with her worthy desire, went to a peak abounding in peacocks afterwards known by her name among the people.

[St. 8] She, whose resolve was unalterable, having taken off her necklace, which rubbed off the sandal paste by its moving strings, put on the bark garment tawny like the morning sun, the compactness of which was impaired by the projection of her breasts.

[St. 9] As her face looked attractive by decorated tresses, so did it now even with matted hair. For a lotus looks beautiful not only by its contact with the swarm of bees but also in the company of the moss.

[St. 10] The resting-place of the cord of her girdle was made red by the girdle of Munja grass composed of a triple string worn as it was for the first time for the sake of her vow and which made her hair every moment stand at their ends.

[St. 11] The hand which was turned away from her lower lip, of which the painting was cast off, and from the ball reddened from the painting on her breast, was now made by her the friend of the rosary of Rudraksa, with fingers injured by plucking the fresh blades of kusa grass.

[St. 12] She, who would feel vexed even by the flowers of her hair dropped by her rolling on her costly bed, slept and sat on the altar ground (or bare ground) using her lovely arm as a pillow.

[St. 13] By her, who was observing a vow, two things were deposited to be taken back with the two parties—her sportive movement with the tender creepers and her tremulous glance with the female deer.

[St. 14] Free from inactivity, she herself reared the young plants by watering them with breast-like jars. Her motherly affection for them, who were first born, even Guha would not set aside.

[St. 15] Being fondled by giving them handfuls of forest grain, deer confided in her so much that out of curiosity she could measure her eyes with theirs before her friends.

[St 16] The sages, desirous of seeing her, approached her, who used to take her (daily) sacred bath and offered oblations to the fire, had an upper garment of bark and was devoted to the learning of the Vedas. Age is not taken into account with regard to those who are advanced in spiritual atainments.

[St 17] That penance-forest, where inborn hostility was given up by the inimical beasts, where the guests were honoured by the trees with flowers (or fruits) according to their taste and where fires were maintained in every new hut of leaves, also became holy.

[St. 18] When she thought that the desired fruit was not to be secured by that much performance, then not caring for the delicacy of her frame she began to practise a severe course of penance.

[St 19] She, who was fatigued even by sporting with the ball, (now) underwent the career of ascetics. Surely her body was composed of gold lotuses as it was by nature tender as well as hard (lit. full of substance).

[St. 20] Sitting in summer in the midst of four flaming fires, she of bright smile and of slender waist, having subdued the lustre that dazzled the eyes gazed at the sun with steadfast look.

[St. 21] Her face thus greatly scorched or extremely

reddened by the rays of the sun possessed the beauty of a lotus; but gradually only round the long corner of the eyes darkness made its appearance.

[St. 22] Only the water that came to her unsolicited and the rays of the moon full of water or nectar formed her feast after fast, the means of which were not distinct from those by which trees subsist.

[St. 23] She, being extremely heated by various fires the one wandering in the sky (i. e. the sun) and those (four) lighted with fuel, and being drenched with fresh waters at the end of the summer, sent forth, along with the earth, vapours that went upwards.

[St. 24] The drops of first water rested for a while on her eye-lashes, then struck against the nether lip, broke as they fell on the elevation of her breasts and stumbled through the folds of her belly and reached her navel after a long delay.

[St. 25] The nights, which served as the witnesses of the great penance of her, who slept on a slab-stone, and who did not live under a sheltered roof even in the midst of continuous rains accompanied by winds, watched her, as it were, with their glances in the form of lightning.

[St. 26] She, who was bent on living in water, passed the nights of Pausa, when the winds scattered frost in abundance, pitying the pair of the Cakravaka birds (which were) before her, separated and crying for each other.

[St. 27] By her face as fragrant as the lotus, which looked splendid with the quivering leaf of the lower lip, she at night affected the union of lotuses with water, the wealth of the lotuses of which was destroyed by the rain of frost.

[St. 28] Certainly subsistence on the leaves of the

trees fallen at their own will is the extreme limit of penance; but even that was abandoned by her. Hence the antiquarians call her, of sweet voice, Aparna.

[St. 29] By this and other kinds of penances, she wearing out her body tender as a lotus-fibre, day and night, far excelled (lit. put down) the penance practised by ascetics with strong constitution.

[St. 30] Then a certain ascetic with matted hair, wearing the skin of a black antelope and holding a staff of Palasa, bold in speech, burning, as it were, with the Brahmanic lustre, entered the penance-grove like the first stage of life incarnate.

[St. 31] Parvati, disposed to hospitality, went forth to receive him with worship preceded by great reverence. The actions of even those whose mind is turned to equality, are full of reverence with regard to distinguished persons.

] St. 32] Having accepted the homage or hospitality offered according to the injunctions laid down in the Sastras and apparently having removed his fatigue for a moment, he, looking at Uma with a simple or innocent glance, and without leaving manners, began to speak.

[St. 33] Are sacrificial sticks and kusa grass easily procurable for your religious acts ? Is the water suitable for your bath ? Do you practise penance according to your strength ? For body is the foremost means of performing holy deeds.

[St. 34] Are the shoots of these creepers nourished by the water sprinkled by you, continuous ?—the shoots which imitate your lips red though long deprived of red lac.

[St. 35] Does your mind feel pleasure among the deer, who lovingly snatch away Kusa grass held in your hands, and who, O lotus-eyed one ! represent a resemblance to your eyes by their tremulous glance ?

[St. 36] O Parvati ! The saying that 'beauty never leads to sinful course of life,' is not false, since your conduct, O you of noble countenance ! has become an ideal even for the ascetics.

[St. 37] This mountain was not so much purified by the Gangetic waters dropped from heaven and smiling with the offerings (of flowers) made (lit. scattered) by the seven sages, as he, together with his posterity, has been with your stainless acts.

[St. 38] By this, O you of noble thoughts ! Dharma appears to me pre-eminently as the best of the group of the three since this only being selected is followed by you having banished the thoughts of wealth and desire from your mind.

[St. 39] It does not behove you to consider me a stranger, to whom special service has been rendered by yourself, since, O you of fair form (or stooping body) ! the friendship of the good is declared by the wise to be formed after seven words (or steps) have together been exchanged (or walked).

[St. 40] Therefore, O you to whom penance is a treasure ! I, in whom curiosity is awakened on account of my being a twice-born, am desirous of asking something to you, of great forbearance. If it be not a secret, then you will please make a reply.

[St. 41] Your birth is in the line of Brahman, the first creator. Your body is the repository of the accumulated wealth of the charm of the three worlds. The happiness

of prosperity is not to be sought for by you. Your age is fresh (i. e. you are youthful). Say then what else than these can be the fruit of austerities ?

[St. 42] Such a (severe) course of action is possible (only) in case of high-souled ladies when an unbearable wrong is done to them; but, O you of slender waist ! that (wrong) is not known in your case though I direct my mind in the channel of thought.

[St 43.] This your form can never suffer the humiliation of grief. O you of beautiful eye-brows ! whence can there be insult in your father's house ? None can dare touch you. Who can extend his arms towards the needle-like serpent's gem ?

[St. 44] Why having abandoned ornament in youth have you put on bark garment fit for the old age ? Say if the night in its forepart, possessed of glorious moon and stars, is fit to receive the dawn ?

[St. 45] If you are seeking heaven your effort is useless, for the regions of your father are the lands of gods. If you (desire) a husband (then) desist from this penance; (since) a gem does not seek but is sought after.

[St. 46] Your hot sighs have expressed (to me your secret), but still my mind is full of doubt. Thece is not seen any one who is to be sought after by you. How can there be one who is unobtainable when sought after ?

[St. 47] The youth, who is desired by you, must be hard-hearted, since he is indifferent towards (or is careless about) your matted hair, tawny like the end of the blades of paddy, hanging loosely on your cheeks, which have long been without ear-lotuses.

[St. 48] The heart of what person, possessed of feeling, will not be pained on seeing you exceedingly emaciated by the vows of hermits; the places of ornaments of whose body were burnt by the sun and looking like the digit of the moon by day ?

[St. 49] I consider your lover to have been deceived by the pride of his charms, who does not, for a long time, make his face the object of your eyes with lovely look and curved eye-lashes.

[St. 50] O Gauri! how long will you weary yourself ? I too am possessed of penance accumulated in the first stage of my life. By the half portion of that (penance) get your desired bride-groom. However, I desire to know him well.

[St. 51] Thus addressed by the Brahmana, having penetrated into her heart, she could not speak out the desire of her mind. Then turning aside her eyes, devoid of collyrium, she looked at her friend, who stood by her side.

[St. 52] Her friend said to the Brahmacarin—O Sage! if you are so curious you may know then for whom this lady has made her body as the means of accomplishing her penance like a lotus for warding off the sun.

[St. 53] Having disregarded the lords of the four quarters, Indra etc. of great wealth, the high-minded lady desires to obtain as her husband the trident-holder Siva, who cannot be conquered by beauty on account of the over-throw of cupid.

[St. 54] The arrow, of the flower-bowed god, although with his body destroyed, whose point failed to reach the enemy of the cities (i. e. Siva) being turned back with the Humkara sound (or weapon), hard to

be borne, struck her in the heart with a deep (or terrible) stroke.

[St. 55] Since then, the maiden, whose passion was strongly excited, whose tresses were rendered white by the mark of sandal-paste on her forehead, never felt comfort in her father's house even (while sitting) on the surface of the slabs of heaped snow.

[St. 56] Often she made the daughters of the Kinnara kings, her companions in the songs sung in the beautiful forest regions, weep by words dropped from her mouth choked with tears, when the heroic deeds of the trident-holder Siva were set to music.

[St. 57] Having closed her eyes for a while at night, when its third or fourth part only remained, she woke up all of a sudden crying out in aimless language and placing her arms around an imaginary neck (of Siva) "Where do you run away, O Nilakantha ?"

[St. 58]. "When you are called omnipresent by the wise then how is it that you do not know me in love with you? " Thus Siva, painted by her own hand, was reproached in private by this simple girl.

[St. 59]. When she, searching hard to secure the lord of the universe, could find no other way, she, permitted by her parents, repaired with us to this penance-grove for practising austerities.

[St. 60] Fruit has been seen even on these trees planted by our friend herself, and witnesses of her penance. But the craving of her heart centred in the moon-crested god does not seem even sending forth its shoots.

[St. 61] I do not know when he, who being sought after is difficult to be obtained, will favour our friend, re-

duced to thinness by austerities and tearfully looked at by her friends, like Indra favouring the ploughed land distressed by drought caused by him.

[St. 62] Being thus informed by her, who was in the know of Parvati's heart and who did not hide her honest intention, that handsome Naisthika Brahmacarin revealed no signs of delight and questioned Uma whether it was a fact or a joke.

[St. 63] Then the daughter of the mountain (Parvati), placing the rosary of crystal beads in the forepart of her hand, of which the fingers were closed in the form of a bud, having adjusted her speech after a long time, spoke in measured accents with great difficulty.

[St. 64] O you the best among the Vedic Scholars ! It is just as you have heard. This person is (i. e. I am) eager to attain the exalted post. The penance which is a means of attaining it does not seem to be so. There is nothing that is inaccessible to desire.

[St. 65] Then the Brahmacari said. "Mahesvara is known to me and yet you have a longing for him. Considering that he delights constantly in evil habits, I dare not approve of your desire.

[St. 66] O you, who have set yourself on an unworthy object, how this your hand, with the nuptial string tied to it, will bear the first clasp of Siva's hand wearing a serpent formed into a bracelet ?

[St. 67] Do you yourself think for a moment if these two things ever deserve union—your wedding silk garment embroidered with the figures of the swans and Siva's garment of hide dropping blood ?

[St. 68] Who even a foe would approve the footprints marked with red paint, of your feet, accustomed

to walk on the heaps of flowers in the quadrangular court-yard, to tread upon the burning grounds strewed with the hair ?

[St. 69] Say what can be more improper than this that the ashes of the funeral pyre on the bosom of the three-eyed god Siva will find a place on your breasts, which have been a place for sandal-paste ?

[St. 70] Yet here is another matter of humiliation in store for you in the very beginning when good (or great) people will have smiling faces when, after marriage, they see you, fit to be borne on a lordly elephant, carried by the old bull (of Siva).

[St. 71] By their desire for the union with Siva two things have been reduced to a pitiable condition—that lustrous digit of the moon and yourself the moonlight of the eyes of this world.

[St. 72] His body possesses deformed eyes, his parentage is unknown, and his wealth is inferrable from his nudity, O you possessed of eyes like those of a young doe ! is that, whatever is sought in bride-grooms, found even partially in Siva ?

[St. 73] Turn away your heart from this evil desire. How great is the disparity between him of that sort and you possessed of auspicious marks ! No good men would demand the same purificatory ceremonies for an impaling stake in the cemetery as is ordained in the Vedas for a sacrificial post.

[St. 74] When the Brahmana was speaking contrary to her desire, she, whose anger was reflected in the lower lip, with the creeper-like eye-brows contracted, cast sideways her eyes red at the corners at him.

[St. 75]. And she said to him "You do not truly

know Siva at al since you have expressed thus to me. The dull-witted hate the life of the great, which differs from that of uncommon run of mankind and the purpose of which passes comprehension.

[St. 76] Auspicious things are resorted to by one who is eager to counteract evils or is anxious to increase his health. What has he, who is the protector of the world and free from desires, to do with these (auspicious things), which corrupt the functions of the soul by desire (or what has he.........to do with these actions of those, who minds are overpowered by desire) ?

[St. 77] Though poor, he is the spring of riches, abiding in the cemetery he is the lord of the three worlds, though of terrible aspect he is called auspicious. There are none who know his real nature.

[St. 78] His body may be shining with ornaments or wrapped by hooded snakes; it may bear silken garments or the elephant's hide, it may have moon or the skull on its crest,—the form of him, whose self is the universe, cannot be determined or circumscribed.

[St. 79]. Certainly the particles of funeral ashes become purifying by their contact with his body and it is therefore that they are rubbed on the heads of the denizens of heaven, when they fall about by the movements of his body in the course of his dance.

[St. 80] Borne on the rutting elephant of the quarter, Indra coming near touches with his head the feet of the poor god riding his bull and makes his toes reddish with the pollen dust of the full-blown Mandara flowers.

[St. 81] You of depraved soul, although desirous of repenting his faults, have said one good point about

Siva. How could the origin of him, who is regarded as the cause of even the self - born Brahman, be known ?

[St. 82] No more of disputing; let him be so exactly as you have heard him to be. My mind solely swayed by the sentiment of love is set on him. One who acts according to one's desire does not care for ill report.

[St. 83] Stay, my friend! this Bramacarin, whose upper and lower lips are quivering, and who (therefore) seems to utter more. Not only he who speaks ill of the great but even he who hears him shares his sin.

[St. 84] "Or I shall go away from this place", so saying the maiden, whose bark-garments got loosened from her breasts, started and the bull-bannered god assuming his own form held her smilingly.

[St. 85] On seeing him, the daughter of the lord of the mountain quivering and perspiring, with her foot raised to plant on the ground, could neither move nor stay, like a river hampered by the obstruction of a rock on its way.

[St. 86] "O you of stooping limbs ! henceforth I am your slave purchased by your austerities." Just as Siva uttered these words, Parvati forgot instantaneously the weariness caused by the toil of her austerities. The attainment of fruit removes fatigue and refreshes one.

———

U. P. INTER. BOARD.

1943

1. Explain the following in your own Sanskrit :—
   (a) 45, 72.
2. Translate the following into Hindi or English :—
   (a) 64, 4.
3. Explain fully the following with reference to the context :—
   86.
4. Fully explain the following :—
   (a) 84 d; b 77 d.
5. Mention some of the distinguishing features of a महाकाव्य and a drama.
6. Explain the case endirg in समाधिना in St. 45.

1944

1. Explain the following in Sanskrit :—
   (a) 70, 20.
2. Translate the following into Hindi or English :—
   7, 58.
3. Explain fully with reference to the context the following in Hindi or English :—
   (a) 5 c, d; 44 c, d; 9 c, d; 81 c, d.
4. (a) Compare and contrast the style of भवभूति with that of कालिदास and support your statements with reference to the text-books that you have read.

(b) Explain the formation of any one of the following :—
ईप्सित (st. 5); पङ्कज (st. 9) and गरीयस् (st. 7).

1945

I. Explain either in your own Sanskrit or in Tika form :—
(a) (i) 77 or (ii) 78.

II. Translate the following :—
(i) 85 or 86.

III. Explain with reference to the context the following :—
(a) (i) 4 c, d; or 11 c, d.
(b) (i) 46 c, d; (ii) 43 c, d.

IV. Explain the formation of one of the following :—
याथार्थ्य (st. 77), वीक्ष्य (st. 85), प्रार्थयितव्य (st. 46).

V. Estimate the character of Parvati as depicted in the V canto of the Kumarasambhavam with apt quotations from the text. Your answer to this question should not cover more than three pages of your answer book.

1946

I. Explain either in simple Sanskrit or in Tika form :—
(i) 18 or 59.

II. Explain the following into Hindi or English :—
(i) 76 or 37.

III. Explain with reference to the context the following into Hindi or English :—
(a) (i) 16 d or (ii) 86 d.
(b) (i) 33 c, d; or 55 c, d.

IV. (a) Expound and name the compounds in आशोपहतात्मवृत्तिभिः ।

(b) Explain the formation of any one of the following अनपेक्ष्य (i) (ii) विचिन्वती (iii) विकीर्य ।

V. Give the substance of the talk that passed between Siva and Parvati as depicted in the Kumarasambhavam.

1947

I. Explain the following either in simple Sanskrit or Tika form :—

(a) 75, or 13.

II. Translate the following into Hindi or English :—

(a) 5, 48.

III. Explain with reference to the context, in Hindi or English, any two passages :—

(i) 45 d; 1 d; 39 c, d.

IV. (a) Name and expound the compounds in any two :—

अचिन्त्यहेतुकम् (75), ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम् (5) दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् (48)

(a) Explain the formation of प्रतीपयेत् in st. 5 d and सासपदीनम् in st. 39 d.

(c) Quote in full the verse of which question III (i) and question III (ii) form a part.

V. Briefly discuss the date of the author of the Kumarasambhavam.

1948
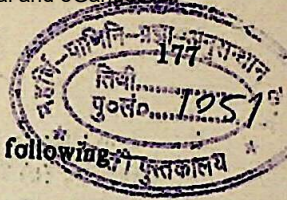
I Translate into Hindi or English the following:
(a) 22; (b) 25.

II Explain with reference to the context, in Hindi or English, the following :—
(a) 83 c, d; (b) 46 c, d.

III Explain in your own Sanskrit or in Tika-form the following :—
86.

IV (a) Name and expound the Samasas :—
वृत्त्वृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः (22)।
(b) Explain the case-ending in तस्मात् in Q. II (a).

V Write an appreciation of the poetical qualities of Kalidasa.

1949

I Translate into Hindi or English the following :—
(a) 61 ; (b) 76.

II Explain the following in your own Sanskrit or in Tika form :—
(a) 28 ; (b) 22.

III Explain with reference to the context :—
(a) 75 c, d; (b) 73 c, d.

IV Expound and name the Samasas :—
स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता (28) ;
अयाचितोपस्थितम् (22)

V Write a brief essay in Hindi or in English on Kalidasa as a poet, giving illustrations from 'Kumarasambhavam' and 'Sakuntalam'.

1950

I Translate into Hindi or English the following :—
(a) 35; (b) 77.

II Explain the following in your own Sanskrit or in Tika-form :—
(a) 19 or (b) 44.

III Explain with reference to the context the following in Hindi or English :—
(a) 5 c, d; (b) 83 c, d.

IV (a) Explain the formation of याथार्थ्यविदः or पिनाकिनः in Q. I (b).
(b) Explain the चतुर्थी in अरुणाय in Q. 2 (a).
(c) Expound and name any two Samasas underlined in Q. I (b) :—त्रिलोकनाथः, पितृसद्मगोचरः ।

V Compare (in Hindi or English) Kalidasa and Bhasa as poets of Sanskrit.

1951

I Translate into Hindi or English the following :—
(a) 16; (b) 31.

II Explain the following in your own Sanskrit or in Tika form :—
41 or 67.

III Explaln with reference to thec ontext any three of the following in Hindi or English :—
(a) 82 d; (b) 64 d; (c) 33 d.

IV (a) Explain the formation of दिद्दत्वः in Q. I (a) or उद्धृतम् in Q. I (b).

V. Expound and name any one of the Samasas in the words underlined in Q. I (b) :—

मार्गाचलव्यतिकराकुलिता; शैलाधिराजतनयां ।

1952

I. Translate into Hindi or English :—

(a) 23 ; (b) 53.

II. Explain the following in your own Sanskrit or in Sanskrit tika form :—

20 or 77.

III. Explain with reference to the context in Hindi or English :—

(a) 45 d ; 83 c, d.

IV. (a) Explain the formation of अवमत्य or अरूपहार्यं in Q. I (b).

(b) Change the voice in the line given in Q. 3 (a).

(c) Expound and name the Samasa in पिनाकपाणिं in Q. I (b) or त्रिलोकनाथः in Q, II (a).

1953

I Translate into Hindi or English the following :—

(a) 35 ; (b) 41.

II Explain the following in your own Sanskrit or in Tika form :—

(a) 77 ; or (b) 5.

III Explain with reference to the context any three of the following in Hindi or English :—

(a) 86 d ; (b) 16 d ; (c) 43 d.

IV (a) Explain the formation of प्रसारयेत् or पन्नगः in Q. 3 (c).

(b) Account for the case-ending in पन्नगरत्न-सूचये in Q. 3 (c).

(c) Expound and name the Samasas in करस्थदर्भप्रणयापहारिषु in Q. I (a) or ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं in Q. II (a).

V Write a short note in Hindi or English on the poetical merits and style of Kalidasa.

१९५४

१. निम्नांकित का अनुवाद हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी में करो :—
(क) ४; ३०

२. निम्नलिखित की व्याख्या अपनी संस्कृत में लिखो, अथवा संस्कृत में टीका करोः—
६ अथवा २२

३. निम्नांकित की व्याख्या प्रसंग-निर्देशपूर्वक हिंदी अथवा अंग्रेज़ी में करोः—
(क) १ घ; ४५ घ; ६४ घ।

४. (क) प्रश्न ३ (ख) में 'अन्विष्यति' अथवा 'मृग्यते' में प्रकृति प्रत्यय का विभाग करो।

(ख) प्रश्न २ (का) में 'पितरम्' में जो कारक है, उसका कारण लिखो।

(ग) प्रश्न २ (क) में 'वृत्त्वृत्तिव्यतिरिक्त साधनः' का समास विग्रह करो।

५. 'कालिदास सर्वश्रेष्ठ कवि है,' इस पर अपना विचार अधिक से अधिक दो पृष्ठों में हिंदी अथवा अंग्रेज़ी में लिखो।

७

A FEW OPIN

Prof. Dharmendra Nath Shas
Meerut College, Mee

"Your edition of कुमा
has been recommended to

Prof. Bal Dev Prasad Upa
University,

"I have recommended
mediate students and th
valuable notes in their studies.

Pt. Arjun Nath M. A. Vice-Principal, Hindu Sabha College, Amritsar, writes (1-8-37):—

I have glanced through the book The plan is excellent. In the Introduction you have briefly dwelt on almost all important points, and in an efficient manner. With pleasure shall I recommend your very useful edition to my Intermediate students. Your good notes and translation will prove very helpful."

प्रोफ़ेसर सदाशिव दीक्षित, गवर्नमेंट कालेज, झांसी, लिखते हैं : "....आपका यह संस्करण विद्यार्थियों को विशेष लाभप्रद होगा, इसका हमें पूर्ण विश्वास है। नोट्स में तुलनात्मक दृष्टि से समुद्धृत पद्यों से आपके प्रकांड पाण्डित्य का तथा बहुज्ञता का पूर्ण परिचय मिलता है। आशा है कि विद्यार्थिवर्ग इससे यथेष्ठ लाभ उठायेंगे ।...."